अनित्य तथा अनात्मवादी अवधारणा का समीक्षात्मक स्वरूप

(बौद्ध दर्शन के विशेष सन्दर्भ में)

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय की पी.एच.डी. उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

वर्ष 2002

निर्देशक -
डॉ. गदाधर त्रिपाठी
रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत - विभाग
श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मऊरानीपुर (झाँसी उ0प्र0)
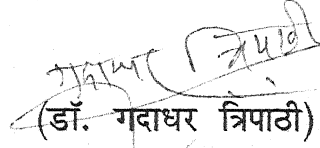
शोधार्थी
बंशीधर शास्त्री

श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय मऊरानीपुर (झाँसी उ0प्र0)

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री बंशीधर शास्त्री ने मेरे निर्देशन में निर्धारित समय तक रहकर अपना शोधकार्य पूर्ण किया है। यह इनकी मौलिक कृति है, जो इनकी अनुसन्धान दृष्टि को प्रकट करती है। मैं इनके सतत् साफल्य की कामना करता हू।

गदाधर त्रिपाठी

(डॉ. गदाधर त्रिपाठी)
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मऊरानीपुर (झाँसी, उ.प्र.)

बुद्ध पूर्णिमा
सन् 2002

प्रस्तावना

भारतीय मनीषा की यह एक विशेषता है, कि इसमें प्रारम्भ से ही जीव तथा जगत के सम्बन्ध में विचार किया जाता रहा है। हम कौन हैं, हमारा मूलश्रोत क्या है, इस संसार में हमारे आने का अभिप्राय क्या है और प्राप्त शरीर के त्याग के पश्चात् हमें कहाँ जाना है - आदि जिज्ञासाओं का समाधान प्रारम्भ से ही चिन्तक और मनीषी करते रहे हैं। इस चिन्तन में जब किसी एक तत्व के अन्वेषण की स्थिति आयी तब यह प्रश्न खड़ा हुआ कि वह तत्व शाश्वत है अथवा अशाश्वत? इसी सन्दर्भ में जगत की स्थिति पर भी विचार किया गया और यह निश्चय करने का प्रयत्न किया गया कि जगत कितना नित्य और कितना अनित्य हैं। हम सभी यह जानते हैं, कि इन जिज्ञासाओं के समाधान में इस देश में दो प्रकार की विचार धारायें प्रचलित हुई, जिनमें से एक नित्यवादी विचार धारा है और दूसरी अनित्यवादी।

मैं संस्कृत का विद्यार्थी होने के नाते प्रारम्भ से ही किसी न किसी रूप में इन दोनों विचारधाराओं के सम्पर्क में आता रहा हूँ और मन में यह भावना बलवती होती रही है, कि मैं समय पाकर इनका अध्ययन कर सकूँ।

संयोग से मैं अनुसन्धान कार्य करने के सन्दर्भ में डा. गदाधर त्रिपाठी-रीडर संस्कृत विभाग श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मऊरानीपुर से मिला और यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप मूल रूप से बौद्ध दर्शन के अध्येता रहे हैं, इसलिए मैंने अनुसन्धान कार्य करने के लिये यह विषय चुना। आपने समय-समय पर यथोचित निर्देशन कर मुझ पर विशेष कृपा दृष्टि बनाये रखी, इसके लिये मैं विनम्रता पूर्वक अपना आभार व्यक्त करता हूँ।

इस क्रम में मैं इसलिए अपने आपको कृतार्थ मानता हूँ, कि मेरे परम श्रद्धेय गुरूवर पूज्य स्वामी ब्रह्मप्रकाश ब्रह्मचारी प्रबन्धक ब्रह्मानन्द संस्कृत महाविद्यालय राठ (हमीरपुर) उ.प्र. की वह इच्छा साकार हुई जिसमें वे चाहते थे कि मैं संस्कृत का अध्येता होकर इस विषय में अनुसन्धान कार्य करूँ। मैं उनकी इस इच्छा का जो मेरे लिये आशीर्वाद रूप में सिद्ध हुई आज आदर करता हूँ और उनका स्मरण करता हुआ उनके चरणों में नतमस्तक हूँ श्रद्धेय स्वामी जी मेरे लिये ही नहीं अपितु सामाजिक सन्दर्भ में भी वे एक उच्च कोटि के सन्त हैं, जिन्होंने मुझ जैसे निर्धन दलित को न केवल आश्रय दिया अपितु मुझे प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक अहेतुक वृत्ति से शिक्षित किया मेरा रोम-रोम आज उनके लिये कृतज्ञ है। यहाँ पर मैं अपने अग्रज तुल्य श्री दादा लक्ष्मीनारायण सिंह (गल्हिया) जी को भी स्मरण करना चाहूँगा जिनके साहचर्य और उत्साह ने मेरे विद्यार्थी जीवन में मुझे सम्बल प्रदान किया और जिनके स्नेह से मैं आज यहाँ तक पहुँच सका, मेरी उनके प्रति विनम्र कृतज्ञता है।

डा. कमलेश शर्मा अनुभाग अधिकारी बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय के प्रति मैं अपना धन्यवाद ज्ञापित करना चाहता हूँ, जिन्होंने प्रारम्भ में मेरे इस कार्य में सहायता की। इस शोध प्रबन्ध के टंकण में विजय कम्प्यूटर्स, झाँसी (अरूण विजयवर्गीय) को भी मेरा धन्यवाद है। जिन्होनें परिश्रम पूर्वक इस शोध ग्रन्थ को तैयार किया।

बंशीधर शास्त्री
बी-349, दीन दयाल नगर, झासी

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय
(अनित्यता के प्रारम्भिक संकेत)

द्वितीय अध्याय
(आत्मान्वेषण के विविध रूप)

तृतीय अध्याय
(बौद्ध प्रस्थानों में अनित्यता)

चतुर्थ अध्याय
(बौद्ध निकायों में अनातमता)

पंचम अध्याय
(अन्य दर्शनों में अनित्य तथा अनात्मता के संकेत)

ग्रन्थ-संकेत सूची

क्र.स.	संकेत	ग्रन्थ का नाम
1.	भा.ज्यो.शा.	भारतीय ज्योतिष शास्त्र
2.	ज.रा.ए.सो.	जनरल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी
3.	सं.सा.इ. (मै.)	संस्कृत साहित्य का इतिहास (प्रथम भाग)
4.	हि.ए.स.लि. (एफ.)	ए हिस्ट्री आफ एब्सियण्ट संस्कृत लिटरेचर
5.	अ.इ.ओ.	आल इण्डिया ओरयिण्टल
6.	वे.द. (पाल)	वेदान्त दर्शन
7.	उ.द.र.स.	उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण
8.	गी.र.	गीता रहस्यम्
9.	प्रा.भा.स. (विष्ट)	प्राचीन भारतीय साहित्य (प्रथम भाग)
10.	कृ.य.तै.सं.	कृष्ण यजुर्वेद तैत्तरीय संहिता
11.	ऋ.	ऋग्वेद भाग-2
12.	अर्थव.	अथर्ववेद
13.	क. (उ.सं.)	कठोपनिषद्
14.	बृह.	बृहदारण्यकोपनिषद
15.	ऋ. आ. (राहुल)	ऋग्वैदिक आर्य, राहुल सांकृत्यायन
16.	छान्दो.	छान्दोग्योपनिषद (शांकर भाष्य सहित)
17.	ई. (उ.स.)	ईशोपनिषद्, उपनिषद संग्रह से
18.	कौषी. (ई.वि.)	कौषीतक उपनिषद्
19.	फि.उ. (गाडेन)	दी फिलासफी आफ उपनिषत्स्
20.	दी.नि. 1(क)	दीघ निकाय भाग 1
21.	खु.नि. 5 (क.)	खुद्दक निकाय भाग 5
22.	सं.नि. 2 (क.)	संयुक्त निकाय - 2 भाग
23.	मनु.	मनु स्मृति, मथुरा प्रकाशन
24.	यजु.	यजुर्वेद

25.	वै. लि.	वैदिक लैक्चर्स
26.	अथर्व.	अथर्ववेद
27.	बुद्धिज्म	बुद्धिज्म
28.	ऐ (ई.द्वा.उ.)	ऐतरेयोपनिषद्
29.	क. (इ.द्वा.उ.)	ईशादिद्वादशोपनिषद
30.	प्रश्नों (ई.द्वा.उ.)	प्रश्नोपनिषद्
31.	क.	कथावत्थु
32.	खु.नि. 1 (क.)	खुदद्क निकाय भाग (1)
33.	शि.स.	शिक्षा समुच्चय
34.	स.पु. (दास)	सद्धर्म पुण्डरीकम्
35.	ज.रा.ए.सो. 1905	जनरल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी 1905
36.	ल.वि.	ललित विस्तर
37.	अ.सा.प्र.पा.	अष्ट साहस्त्रिका प्रज्ञा पारमिता
38.	सं.सू.	सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र
39.	ग.सू.	गण्डव्यूह सूत्र
40.	सं.नि. 2 (क)	संयुक्त निकाय (भाग 2)
41.	म.नि. 1 (क)	मज्झिम निकाय (1)
42.	मुण्ड.	मुण्डकोपनिषद्
43.	म.नि. 3 (क)	मज्झिम निकाय भाग (3)
44.	म.नि. (रा.)	मज्झिम निकाय
45.	श्वे.	श्वेता श्वतरोपनिषद्
46.	सं.नि. 2 (क.)	संयुक्त निकाय भाग (2)
47.	उ.प्र. बौ.वि.	उत्तर प्रदेश में बौद्ध दर्शन का विकास
48.	एम.एल.एस. 1 (आइ.)	दी मिडिल लेंग्थ सेइन्स भाग (1)
49.	वि. (क.)	विभङ्गपालि
50.	सु.प्र.	सुवर्ण प्रभा ससूत्रम्
51.	द.सू.	दश भूमिक सूत्रम्

52.	ने.प.	नेत्तिकरण
53.	पा.लि.लै.	पालि लिटरेचर एण्ड लैग्वेज
54.	पा.सा.ई. (सिं.)	पालि साहित्य का इतिहास
55.	ज.रा.ए.सो. (1955)	जनरल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी - 1925
56.	हि.इ.लि.	हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर
57.	अ.सं.	अभिधम्मत्थ संगहो
58.	अ.सा.	अट्ठसालिनी
59.	वि.मा. 1	विसुद्धिमग्ग आफ बुद्धघोष
60.	मुण्ड.	मुण्डकोपनषद्
61.	अं. (क)	अड्.गुत्तरनिकाय
62.	मि.प्र. (कश्यप)	मिलिन्द प्रश्न
63.	एम.एन.बी.एस.	मिलिन्द पञ्ह एण्ड नागसेनभिक्षु
64.	मि.प्र.	मिलिन्द प्रश्नम्
65.	बौ.वि.इ. (पाण्डेय)	बौद्ध धर्म का विकास
66.	अ.शा.	अभिधर्म कोशः
67.	अ.को.भा.	अभिधर्म कोश भाष्यम्
68.	दी.नि. 2 (क)	दीघ निकाय भाग (2)
69.	प.सू.	पपञ्चसूदनी नाम अट्ठकथा
70.	अंगु. (पा.टे.सो.)	अड्गुतरनिकायः भाग (1) (2)
71.	अ.को.	अभिधर्म कोशः
72.	अ.को.भा.	अभिधर्म कोशभाष्यम्
73.	स्फु.	स्फुटार्थाः अभिधर्मकोशव्याख्या
74.	आ.बौ.द.	आदि बौद्ध दर्शनः अनात्मवादी परिपेक्ष्य
75.	ब्र.शां.भा.	ब्रह्मसूत्रशाड्.करभाष्यम् (भामती साहितम्) अनन्तकृष्ण शास्त्री, निर्णयसागर प्रेम
76.	छा.शां.आ.	छान्दोग्योपनिषद् (शाड्.करभाष्य सहित)

77.	क.शां.आ.	कठोपनिषद्
78.	बो. (शा.)	बोधिचर्यवतार
79.	मा.क.	माण्डूक्यकारिका
80.	हि.इ.फि.	ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी
81.	मा.ऊ.शां.मा.	माण्डूक्योपनिषद्
82.	म.प्र.	मध्यमकशास्त्रम् (प्रसन्नपदाव्याख्या सहितम्)
83.	सि.सि.इ.फि. (मै.)	सिक्स सिस्टमस आफ इण्डियन फिलासफी मैक्समूलर लन्दन
84.	सां.सि. (का.)	सांख्य सिस्टम्
85.	आ.इ.फि. (हि.)	आउटलाइन्स आफ इण्डियन फिलासफी एम. हिरियन्ना
86.	ज.मं.	जयमड्गला
87.	त.कौ.	तत्व कौमुदी
88.	यो.सू.	पातञ्जलयोग सूत्रम्
89.	म.शा.स्थि.	मध्यान्तविभागशास्त्रम् (स्थिरमतिरीका सहितम्)
90.	वि.मा.	विज्ञप्ति मात्रतासिद्धि प्रकरणद्वयम्
91.	भा.द. (राधाकृष्णन्)	भारतीय दर्शन (राधा कृष्णन्)
92.	वि.मा.	विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि प्रकारणद्वयम्
93.	म.सू.	महायानसूत्रालड्कार:
94.	बो.भू.	बोधिसत्वभूमि:
95.	सां.त.कौ.	सांख्यतत्त्व कौमदी
96.	प्रो.ओ.का.	प्रोसीडिंग्स आफ थर्ड
97.	अच्युत	अच्युत
98.	तै.ऊ.	तैत्तरीयोपनिषद्
99.	ई.आर.ई.	इनसायक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स खण्ड आठ

100.	भा.बौ.ई. (लामा)	भान्त में बौद्ध धर्म का इतिहास लामा तारानाथ
101.	स.सू.	समाधिराजसूत्रम्
102.	र.	रत्नावली (म.शा. षष्ठ परिशिष्टम्)
103.	ध.सं.	धर्म संग्रहः, एफ. मैक्समूलर
104.	त.स.प. 1	तत्त्वसंग्रह (पञ्जिकोपेतः) भाग (1)
105.	म.प्र.	मध्यमकशास्त्रम् (प्रसन्नपदाव्याख्या सहितम्)
106.	च.श.	चतुः शतक
107.	म.शा.	मध्यान्तविभागशास्त्रम् (स्थिरमतिटीकासहितम्)
108.	बो.च.	बोधिचर्यावतार (पंजिका सहित)
109.	च.वृ.	चतुःशतक (चन्द्रकीर्तिवृत्तिसहितम्)

प्रथम अध्याय
(अनित्यता के प्रारम्भिक संकेत)

(क) वेदों तथा उपनिषदों में अनित्यता की उद्भावना

(ख) महायान सूत्रों में अनित्यता की स्थापना

(ग) अनित्यता का समेकित स्वरूप

प्रथम अध्याय
(अनित्यता के प्रारम्भिक संकेत)

(क) वेदों तथा उपनिषदों में अनित्यता की उद्‌भावना :-

परम्परावादियों और इतिहासविदों की दृष्टि से वेद एवं वैदिक साहित्य की प्राचीनता सर्वसम्मत स्वीकृत है। आदि वेद ऋग्वेद के रचना के निर्धारण में एक ओर जहाँ वेदों को अपौरूषेय तथा स्व-रचित कहा जाता है, वहीं दूसरी ओर इन्हें पौराणिक आचार्य व्यास की रचना भी कहा जाता है।[1] शंकर बाल कृष्ण दीक्षित कृतिकाओं के उदय स्थल के संकेत की गणना से ऋग्वेद की रचना का समय 5500 वर्ष पूर्व मानते है[2]। विल्सन की दृष्टि इस सम्बन्ध में अधिक उदारवादी है, क्योंकि वे वैदिक सभ्यताओं को ग्रीक सभ्यता से भी प्राचीन मानते है[3]।

अन्य पाश्चात्य विद्वानों में मैक्डानल ने वैदिक युग को ई.पू. 1500 वर्ष से लेकर ई.पू. 200 वर्ष तक का युग कहा है[4]। मैक्समुलर अपेक्षाकृत वेदों का रचना काल अर्वाचीन युग में निर्धारित करते है और वे ऋग्वेद का रचना का समय 1200 वर्ष विक्रम पूर्व का स्वीकार करते है[5]। उनके इस सिद्धान्त का स्वीकरण अब बहुत से विद्वान नहीं करते हैं, क्योंकि बेगाज कुई की उत्खनन सामग्री (उपनिषदें परम्परा से वेद हैं, किन्तु भाषा और विषय की भिन्नता की दृष्टि से वह संहिताओं से अवौचीन है)ने वेदों की प्राचीनता सिद्ध कर दी है[6]।

---

1. भा. पु. 1/4/19-22
2. भा.ज्यो.शा., पृ 136 - 140
3. ज.रा.ए.सो.1852, खण्ड 13 पृ.206
4. सं. सा. इ. 1 (मै.), पृ. 07
5. हि.ए.स.लि.(एफ.) पृ. 295
6. आ.इ.ओ.का 9 वां सेशन के चट्टोपाध्याय, पेज 16-18

उपनिषद साहित्य की प्राचीनता और उसके वर्तमान स्वरूप में भी इसी तरह पर्याप्त मतभेद विद्वानों में है। कहा यह जाता है कि पूर्व समय में सभी वेदों की शाखाओं से सम्बन्धित उपनिषद् थे। इस समय स्थिति यह है कि न तो वेदों की सभी शाखायें उपलब्ध हैं और न ही उनके उपनिषद्। इस समय जो उपनिषद् प्राप्त हैं उनमे से छान्दोग्य, बृहदारणयक, कठतैतरीय, कौषीतकि, मुण्डक, और प्रश्नोपनिषद् का उपयोग बादरायण ने अपने ब्रहमसूत्र में किया है[7]। इनके अतिरिक्त श्वेताश्वतर, कौषीतकि तथा मैत्रायणीय उपनिषद् को भी प्रचीन उपनिषदों की श्रेणी में रखा जाता है[8]। मुक्तिकोपनिषद् में केवल पहले के दस उपनिषदों का ही उल्लेख है। विषय वस्तु के प्रस्तुतिकरण की दृष्टि से प्रश्नोपनिषद् को यद्यपि परवर्ती रचना कहा जाने लगा है[10]। तथापि शांकर भाष्य के आधार पर प्राचीनोपनिषदों की संख्या में तेरह उपनिषद् गिने जा सकते हैं।

प्रस्तुत विषय विवेचन के सन्दर्भ में उपरिलिखित उपनिषदों का ही आधार लिया गया है। इन उपनिषदों की रचना निश्चय ही बुद्ध धर्म के प्रादुर्भूत होने के पहले हो चुकी थी। तिलक ने एक मत यह दिया है कि मैत्रायणी उपनिषद् जो रचना काल की दृष्टि से सभी प्राचीन उपनिषदों के अन्त की रचना प्रतीत होती है, ई. पू. बारहवीं शताब्दी में रची जा चुकी थी[11]।

आज से हजारों वर्ष पूर्व सभ्यता और संस्कृति के उदय काल में जब मनुष्य का जीवन नितान्त रूप से प्रकृति पर आधारित रहा होगा और क्षणप्रति क्षण प्रकृति के परिवर्तनों से उसे अपने जीवन को नियन्त्रित करना पड़ता होगा, उसे प्रकृति के

---

7. वे.द.(पाल), पृ. 119-120
8. उ.द.र.स., पृ 09
9. वही, पृ. 09
10. उ.द.र.स. पृ 12
11. गी.र., पृ. 577-579

समुद्र, नदियां, पर्वत, जंगल, अग्नि, सूर्य, उषस् आदि अपनी ओर आकर्षित करते होंगे। इन्हें देखकर कभी वह इनकी सुषमा से अत्यधिक विभोर हो उठता होगा तो कभी इसके भयानक और विनाशक रूप से त्रस्त भी होगा और सुरक्षा तथा मंगल कामना की इच्छा से किसी आश्रय का अन्वेषण करने के लिये चिन्तित होता होगा। ऋग्वेद के दैविक सूक्त, जिनमें प्रकृति के तत्वों को भिन्न रहस्यमय शक्तियाँ मानकर उनका स्तुतिगान किया गया है, इसी ओर संकेत करते हैं कि वे इनमें सभ्यता देखकर यदि इनकी ओर आकर्षित हुए तो इनसे अपनी रक्षा की कामना से इनका स्तुतिगान करने लगे। परन्तु इन स्तुतियों को केवल मानव कल्पना से उद्भूत सुरक्षा की इच्छा से किए गए मन्त्र ही नहीं मानना चाहिए, अपितु इन्हें मानव जाति के आदिम विचारों का प्रतिनिधि भी मानना चाहिए।

वेदों में इन्द्र, अग्नि, उषस्, बरूण, यम आदि देवताओं की प्रार्थना करते हुए वैदिक ऋषियों को इनमें से पृथक-पृथक देवता कोई विशेष देवता नहीं, अपितु प्रकृति की शक्तियों का ही मूर्तरूप प्रतीत होता था। विन्टर निल ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि वैदिक गाथाओं के मुख्य रवि देवता प्राकृतिक शक्तियों के मूर्तकरण है[12]। तभी वे अलग-अलग देवता की स्तुति करते समय कभी अग्नि को ही सर्वोच्च्व और व्यापक मान लेते हैं और कभी सूर्य को। इस तरह की पद्धति में वे अपने द्वारा प्रार्थित देवता के समक्ष अन्य देवताओं की न्यूनता भी सिद्ध कर देते हैं। उदाहरणार्थ जब वेद में अग्नि का स्तवन किया गया तो यह कहा गया कि अग्नि

---

12. प्रा.भा.सा. 1 (विन्ट.), पृ. 57

ही समस्त जंगम की निर्माणकर्त्री है। अन्ततः सभी तत्व इसी अग्नि मे विलीन हो जाते है[13]। इस प्रकार की स्तुति से यदि यह संकेत लिया जाये कि अग्नि ही अन्य तत्वों की अपेक्षा सत् है और सभी तत्व अग्नि में विलीन होते है, तो संगत ही कहा जा सकता है।

इसी प्रकार जब ऋग्वेद का ऋषि वात देवता की प्रार्थना करता है तो कहता है कि यह सभी देवताअें की आत्मा है और भुवनों की प्रसूति है। यह देवता स्वच्छन्द रूप से जहां चाहे वहां विचरण कर सकता है। उसकी ध्वनी सुनाई देती है, आकार नहीं दृष्टिगोचर होता है[14]। और इस मंत्र में वात देवता की ही सर्वातिशयता सिद्ध कर अन्य देवताओं की अपेक्षा वात का स्वरूप ही सर्वव्यापी कहा गया है। सम्भवतः यही कारण था कि मैक्डाल यह मानने के लिये विवश हुए कि वैदिक सूक्तकारों के मत में देवता अनादि और अजन्मा नहीं है, कारण यह है कि वे पृथ्वी के अपत्य कहे जाते है और कुछ देवता दूसरे देवताओं से उत्पन्न माने जाते है[15]।

वैदिक ऋषिओं के मन में भी यह विचार आता है कि क्या देवतओं का वास्तविक रूप वही है, जो हम जानते हैं। वेद में अति प्रतिष्ठित और शक्तिशाली देवता इन्द्र की स्तुति में ही यह कहा जाने लगा कि क्या इन्द्र है? हमारी यह स्तुति इन्द्र देव को अर्पित है, यदि सचमुच ही कहीं कोई इन्द्र है[16]। इसी तरह ऋग्वेद में ही प्रजापति की स्तुति में बार-बार यह कहा गया कि हम किस देवता की स्तुति करें, किस देवता को हवि दें[17]।

---

13. स. सा. इ. (मैक्डा), पृ. 59
14. ऋ. 8/100/3
15. वही, 10/121/1-2
16. वहीं, पृ. 57 एवं कृ.म.तै.सं. 2/1/5/32, 2,1/5/4
17. ऋ. 10/121/1-2

सन्देह और जिज्ञासाओं की इस विचारधारा से सारे दृष्टिकोण में परिवर्तन सा ला दिया और वैदिक ऋषि यह सोचने लगे कि यह सृष्टि क्या है, इसका आदि रूप क्या रहा होगा। यह सत् है या असत्! सन्देह और सदसत् के अन्वेषण की जिज्ञासा ने विविध प्रकार की भावना का विकास किया जिसमें किसी ने यह कहा कि देवताओं के पहले असत् से सत् उत्पन्न हुआ, "देवानां पूर्वे युगेऽसतः सदजायत्"। अग्नि के लिए ही जिसे पहले देवरूप में प्रतिष्ठित किया गया था, उत्पत्ति के पूर्व उसका असत् रूप बताया गया। इसी तरह दशम मण्डल के 129 सूक्त में यह भी कहा गया कि आदि में न सत् था न असत्! उस समय सत् और असत् के अभाव के साथ-साथ आकाश और अन्तरिक्ष का भी अस्तित्व नहीं था।

यही स्थिति यर्जुवेद की है जिसमें सत् और असत् के व्याख्यान में यह कहा गया है कि प्रजापति ने सत्य और असत्य के दो रूपों को देखकर उन्हें पृथक-पृथक कर दिया।

अनित्यता सम्बन्धी विचारधारा के विकास के लिए वेदों में इस प्रकार के विचारों से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध चाहे स्पष्टतः न जोड़ा जा सके किन्तु इतना स्पष्ट है कि नित्यता के विपरीत जितनी भी परिस्थितियां हो सकती है, वे अनित्यता का ही संकेत देती है चाहें वह देवताओं के प्राकृतिक रूप के चित्रण की स्थिति में हो अथवा सत्य के विरोधी असत्य या असत् की स्वीकृति के रूप में। नित्य अनित्य की विचारधारा के संकेत उन स्थलों से प्राप्त किए जा सकते है जहाँ मृत्यु और विनाशक पदार्थो के विषय में कहा गया है। यहां इस भूमि पर अनादि

काल से मृत्यु का ग्रास सभी प्राणी होते रहे है-इसी स्थिति को स्वीकार कर कोई पुत्र अपने पिता से कहता है कि "पिता! अनादिकाल से पूर्वज जिस मार्ग से जाते रहे हैं उसी मार्ग से आप भी सिधारें"[18]। इसी तरह अग्नि से प्रार्थना करता हुआ कहता है कि आप यमलोक के साथ जायें जहां दो कुक्कुर पितरों के साथ उनकी पथ रक्षा के लिये जाते हैं[19]। मृत्यु शैया पर पड़े हुए किसी प्राणी के जीवन की रक्षा का प्रयत्न करता हुआ ऋषि यह कहता है कि जिस तरह रथ जोतने के लिये सारथि जूड़े को चमड़े के पट्टे से बांध देता है, उसी तरह मैंने तुम्हारे प्राणों को बाँधा है जिससे तुम्हारे शरीर का अवसान न हो और तुम सदा स्वस्थ रहो[20]।

शरीर के विनाश की और मृत्यु की अनिवार्यता की चर्चा ऋग्वेद में पर्याप्त रूप से की गई है। यहां उन कथनों से इतना संदेश लिया जाना अपेक्षित हो सकता है कि मृत्यु और विनाश की स्थिति से ऋषि आक्रान्त थे और वे इस संसार से आगे परलोक या यमलोक की कल्पना करने लगे थे।

अथर्ववेद में भी मृत्यु के समय शवदाह के समय बकरे के बलिदान की चर्चा की गई है और यह कहा गया है कि वह बकरा प्रेतात्मा के साथ-साथ जाता है[21]।

अथर्ववेद और भी ऐसे अनेक स्थलों का संकेत करता है, जिनसे मृत्यु अवस्था का निश्चय होता है। कभी उसमें किसी के प्रति क्रोध व्यक्त करते हुए यह कहा जाता है कि तेरे लिए जल अंश निर्धारित है जो मृतक को स्नान कराने के लिय निर्धारित है[22]। वहीं यह कहा जाता है कि उसके महाप्रयाण कर जाने पर भी उसे सौ

---

18. ऋ. 10/14/7
19. अतिद्रवसारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ सबलौ साधुना यथा। वहीं 10/1/14
20. यथा युगं वरत्रया नह्यन्ति धरूणायकम्। श्वा दाधार ते मनो जीवातने न मृत्यवेऽथो...।। वही 10/60/8
21. अथर्व 9/5/1, 9/5/3
22. अथर्व 5/19/14

वर्ष तक सुरक्षित रखा जा सकता है[23] , तो कहीं मौत की बेड़ियों को काट डालने के लिए सचेष्ट किया जाता है[24]।

इन साक्ष्यों से यह प्रतीत होता है कि वेदों में चाहे देवताओं की स्तुतियों के सम्बन्ध में कहे गए सन्दर्भ हों अथवा प्रकृति के आदि उपादान तंत्र के अन्वेषण के सम्बन्ध में। मृत्यु की अनिवार्यता के लिए कहे गए सन्दर्भ को भी सम्मिलित करने के बाद एक प्रकार की ऐसी धारणा बनाई जा सकती है कि वेदों में किसी एक प्रकार की विचार पद्धति का क्रमवार विवेचन न होकर प्रमाणिक कथनों का अभाव है। कहीं जगत् का कारण रूप देवता जगत् की सृष्टि करता है तो कहीं जल से सृष्टि उत्पन्न होती है। कहीं असत् ही देवताओं के पहले था - यह कहा जाता है। मैक्डानल स्पष्ट रूप से यह कहते है कि वेदों में जगत् की उत्पत्ति एक प्राकृतिक उत्पत्ति है। इसमें देवताओं की स्थिति केवल सहायक मात्र की है[25]। जिससे यह अनुभूत हो सकता है कि निरन्तर परिवर्तनशील प्रकृति के पदार्थो में अनित्यता की अनिवार्यता अपेक्षित हो सकती है। इसी तरह असत् और मृत्यु की अनिवार्यता भी एक प्रकार से नित्य की विरोधी अनिवार्यता है जो अनित्यता की संकेतावस्था है। देवताओं का सार्वकालिक रूप का अभाव, असत् की कल्पना और नाशवान् तथा मृत्यु के विनष्ट शरीरों की धारणा ने यदि बौद्ध दर्शन में विकसित अनित्यता को आधार दिया हो तो इसे संगत कहा जा सकता है क्योंकि विन्टर निल के मत से वैदिक विचारों के बिना बौद्ध विचार का विकास असम्भव है[26]।

किन्तु वेदों में जहां किसी विचारधारा का क्रम से विकास नहीं प्रतीत हुआ

---

23. वही, 3/11/2
24. वही, 8/1/4
25. सं.सा.इ. 1 (मैक्डा.) पृ. 126
26. प्रा. भा. इति., पृ. 42

होता वहीं उपनिषद् अपेक्षाकृत एक क्रमिक विचारों की विकासात्मक पद्धति का संकेत देते है। मैक्डानल यह कहते है कि उपनिषदों का लक्ष्य ऐहिक सुख प्राप्ति न होकर अपने भौतिक अस्तित्व को यथार्थ ज्ञान द्वारा अथवा जीव और ब्रहम के ऐक्य द्वारा समाप्त करना है[27]। इसी पद्धति मे उपनिषद् जब यर्थाथ ज्ञान के लिए अपना चिन्तन करते है तो उन्हें जगत् के पदार्थो में अनित्यता और अस्तित्व हीनता का स्पष्ट आभास होता है।

उपनिषदों में अनित्यवादी दृष्टि :-

इसी परिपेक्ष्य में सर्वप्रथम वृहदारण्यक का याज्ञवल्क्प और मैत्रेय सम्वाद प्रस्तुत कर सकते है, जो अमृत और मृत की अवस्था में भेद करने के लिए किया गया उदाहरण है। याज्ञवल्क्य गृहस्थाश्रम त्यागकर वानप्रस्थ में प्रवेश करना चाहेत है और अपनी सम्पत्ति का दाभ भाग अपनी पत्नियों को देना चाहते है। किन्तु उनकी पत्नि मैत्रेयी पूछती है कि क्या मै इस धन-धान्य से अमर हो सकूँगी। तब याज्ञवल्क्य उसे समझाते है और कहते है कि संसार के समस्त पदार्थो का भला अमृतत्व से क्या सम्बन्ध है। ये सभी तो क्षणिक और विनाशक है। उदाहरण के रूप में वे जल में डाले हुए नमक की उपमा समझते है और कहते है कि जैसे जल से उत्पन्न नमक उसी जल में मिलकर समाप्त हो जाता है उसी तरह यह समस्त भूत प्रपञ्चय यहीं पैदा होकर यहीं विनष्ट हो जाता है। मृत्यु के अनन्तर कुछ भी शेष नहीं रहता है।

याज्ञवल्क्य के उत्तर से मैत्रेयी आश्चर्य चकित हो जाती है और वह पुनः प्रश्न करती है कि ऐसा कैसे सम्भव है। तब याज्ञवल्क्य पुनः कहते है कि नहीं, मै

---

27. सं. सा. इ. 1 (मैक्य.) पृ. 202

विचार कर ऐसा कह रहा हूँ, ऐसा ही है, मृत्यु के अनन्तर कुछ भी शेष नहीं रहता।

मृत्यु ध्रुव और शाश्वत है। इसका विचार प्रत्येक उपनिषद् को करना पड़ा और अपने उद्देश्य के अनुरूप वे उससे आगे अमृतत्व के अन्वेषण में निरत हुए। कठोपनिषद् में जब नचिकेता ने अपने पिता से समस्त गाएं दान दिये जाने पर पूंछा कि पिता मुझे किसे देगे तो वाजश्रवस ने उससे कहा कि तुझे मृत्यु को दूंगा। इसी तरह किसी अदृश्य शक्ति की सामर्थ्य का वर्णन करते हुए यह कहा गया कि उसके ब्राहम और क्षत्रिय भोजन है तथा मृत्यु उस भोजन में पड़ी हुई चटनी है। भला उसे कौन जान सकता है[28]।

उपनिषदों की यह विवेचना पद्धति स्पष्ट रूप से यह आभास देती हैं कि यद्वपि यहाँ संसार में समस्त पदार्थो की विनाशात्मक स्वभावशीलता सिद्ध ही है किन्तु इनसे पृथक जो अमृतत्व की स्थिति है वह इनके अन्वेषण का लक्ष्य है। सतत् वर्तमान रहने वाली वस्तु सत्ता का विरोधी मृत्युभाव इस विचार और भाव का प्रतिफलन देता है कि नित्यता के विरोध में एक विचार सरणि उपनिषदों में धीरे-धीरे आकर ग्रहण करती जाती थी।

व्रहदारण्यक में आर्तभाग के द्वारा पूछा गया प्रश्न याज्ञवल्क्य को बड़े ही असमन्जस में डाल देता है। आर्तभाग पूछता है कि जब मृत्यु से ग्रसित होकर मनुष्य का शरीर ज्वाला में रख दिया जाता है तो उसकी वाणी अग्निमय हो जाती है।

---

28. यस्य ब्रहम च क्षत्रं च उमे भवत ओदनम्।
    मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्रसः ।। क (20 सं.), पृ. 148

उसकी प्राण शक्ति वायु में विलीन हो जाती है, दृष्टि सूर्य में विलीन हो जाती है, मन, आत्मा आदि पृथक हो जाते हैं। तब क्या मनुष्य की यही अन्तिम गति है। याज्ञवल्क्य को इसका स्पष्ट उत्तर देने में कठिनाई होती है और वे कहते है कि उसका समाधान मृत्यु से नहीं हो सकता। हम अच्छे-बुरे कर्मो में भेद कर सकते है और उन्हें अपने पीछे छोड़ सकते है[29]।

यहां आर्तभाग और याज्ञवल्क्य का प्रश्नोत्तर निश्चित रूप से मृत्यु की अनिवार्यता को स्वीकार करता है और कर्म के शेष रह जाने को स्वीकार करता है। विन्टर निल इसी दृष्टि से यह कहते है कि इस उदाहरण से स्पष्टतः यह प्रतीत होता है कि मनुष्य सृष्टि के प्राकृतिक नियमों से स्वतन्त्र नहीं है और इसी कर्मवाद सिद्धान्त का बौद्ध विचारों में प्रतिष्ठापन हुआ है[30]। इस विचार क्रम में हम यह देख सकते है कि मनुष्य की मरणशीलता का जो विचार ऋग्वेद में प्रारम्भिक रूप में था वह इस स्थल पर कर्मवाद के रूप में प्रस्फुटित हुआ, क्योंकि ऋग्वेद में पुर्नजन्म का सिद्धान्त नहीं स्थापित हुआ था। केवल अपने कर्मो के अनुसार दूसरे लोक में जाने का उल्लेख अवश्य है[31]।

छान्दोग्योपनिषद में जो अल्प है, यह मर्त्य है और अनल्प है, भूमा है, वह अमृत है कहकर मर्त्य पदार्थो की ओर संकेत किया गया है। यहाँ जो देखता है, जो सुनता है, जो मानता है वह सभी अल्प है और मर्त्य है। सनत्कुमार की दृष्टि से

---

29. वृह., 3/2113
30. प्रा. भा. सा. 1 (विन्ट), पृ. 202
31. ऋ. आ. (राहुल), पृ. 211

समस्त दृश्यमान पदार्थ मर्त्य है[32]। यही मर्त्य और अल्प ही अनित्य और नित्यता का विरोधी धर्म है।

इन प्राचीन उपनिषदों की अपेक्षा, जिनमें मरण धर्म भौतिक पदार्थों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है और इनसे आगे जाकर अमृतत्व के अन्वेषण का प्रयत्न किया गया है, अर्वाचीन उपनिषदों में अधिक स्पष्टत: के साथ सृष्टिगत पदार्थों की सदवस्था पर प्रश्न चिन्ह लगाया गया है।

ईशावास्योपनिषद् में सम्भूति और विनाश के भेद से यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि सम्भूति ही मृत्यु से, विनाश से निकालती है। जो विनाश से बचता है, वही सम्मूति प्राप्त करता है[33]। वहीं यह भी कहा गया है कि ब्रहमज्ञानी यदि सत्य जान लेता है तो विनष्टि से बच जाता है। यदि वह सत्य के ज्ञान से वंचित रहता है, और सत्य का साक्षात्कार नहीं कर पाता तो अधिक विनिष्ट होती है। इसलिये धीर पुरूष चराचर में मृत्यु से लेकर इससे पृथक अमृतत्व प्राप्त करता है[34]।

उपनिषदों की विषयवस्तु पर जब विचार किया जाता है तो यह ध्यान में रखना होगा कि उपनिषदें वर्णनात्मक हैं और अर्द्ध-दार्शनिक विचारों से अवगत कराते हुए बाद में विकसित दर्शन की पृष्ठभूमि तैयार करती हैं। इसी परिपेक्ष्य में यह विचार करने योग्य है कि जब उपनिषद् अमृतत्व के अन्वेषण के लिये विचार करती हैं तो वह जगत् के पदार्थों में अनित्यत्व और मर्त्यधर्मिता का अनुभव करती है और उनमें इस प्रकार की दृष्टि रखने का उपदेश देती हैं। छान्दोगयोपनिषद् जगत् की

---

32. छान्दो 8/3/1
33. ई. (उ.स.) पृ. 39
34. वही, पृ. 24

अवास्तविकता की सिद्धि इस दृष्टि से करती कि सत्य ने स्वेच्छा से अग्नि, जल और अन्न का रूपधारण किया और बाद में यही आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी हुए [35]।

इसी तरह से कौसीतकि उपनिषद् अपने प्रथम अध्याय में मृत्यु के बाद आत्मा के पुर्नजन्म ग्रहण करने की बात कहती है। आत्मा पुर्नजन्म लेने के लिए जिन दो मार्गो से जाता है, उनका वर्णन इस उपनिषद् में विस्तारपूर्वक किया गया है[36]। जबकि मैत्रायणी उपनिषद्, जिसे प्राचीन उपनिषदों के रचनाकाल में सबसे अन्त की रचना कहा जाता है, ब्रहद्रथ और सत्यकाम के सम्वाद से सांसार के पदार्थो की क्षणभंगुरता का ऐसा चित्रांकन करती है कि इसमें विन्टर निल को निराशावादी विचारधारा के बीच दिखाई देने लगते है[37]।

प्रस्तुत वार्तालाप में सत्यकाम द्वारा आत्मा का रूप बार-बार कहे जाने पर चिढ़कर बृहदृव्य कहता है कि भगवन्। मल, मूत्र, अस्थि और मज्जा से युक्त इस शरीर का क्या भरोसा। वासन, क्रोध, ईष्या, जरा और मृत्यु से ग्रसित यह शरीर किस काम का। यह संसार उतना ही क्षणिक है, जितना क्षणिक फूल, पौधे और रोज-रोज पैदा होने वाले कीड़े-मकोड़े हैं। कौन ऐसा देवता, राजा था सिंह पुरूष है, जो मृत्यु का ग्रास न बना हो, परलोक क्या सुखकर है, उससे क्षीण होकर भी तो इसी लोक में आना है। तब भला यहां शरणदाता कौन है[38]।

मृत्यु की इस अनिवार्यता और विनाश की ऐसी भयावहता का समाधान खोजने

---

35. छान्दो. 6/3, वृह. 6/2
36. कौषी (ई.वि.) 1
37. प्रा.मा.सा. 1 (विन्ट), पृ. 208
38. मै. 1, 2-4

के लिये यदि वैदिक ऋषि किसी अमृत तत्व प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करता है, तो वह उसकी सहज प्रवृत्ति हो सकती है, जिस वैदिक ऋषि ने इस सृष्टि के आदि में असत् की सत्यता की, असत् से ही समस्त सृष्टि को उद्भव बताया, वह यह भी अवश्य जानता था कि नित्यता प्राप्ति का लक्ष्य सत् अन्वेषण भले ही हो असत् से इन्कार नहीं किया जा सकता है। जीव मरण धर्मा है, इसको मृत्यु का ग्रास होना है इसे भी वैदित ऋषि स्वीकार करता ही है।

उपनिषदों में हमें यह स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि सत्य ही पंच भौतिक तत्वों में उद्भूत हुआ, जो नित्य और सत् रूप नहीं हो सकते। मृत्यु से आगे बढ़कर अमृतत्व प्राप्त करने के लक्ष्य निर्धारण के साथ भी मृत्यु की अनिवार्यता और सम्भावना उपनिषदों में विचार्य है। एक स्थान पर "सत्य" की व्याख्या करते हुए उसे अमृत से आच्छादित बताकर अमृत और अनित्य की कल्पना को यथार्थ आधार दिया गया है।

उपनिषदों में अपने लक्ष्य के अनुसार नित्य और सार्वकालिक पदार्थो में तत्व के जानने की जिज्ञासा का प्रयत्न लक्षित होता है और इसी क्रम में जो अनित्य और मर्त्य है, अल्प है, उसे यथार्थ रूप में जानने का उपदेश दिया गया है। किन्तु मर्त्य और असत् जो अनित्य का पर्याय हो सकता है, की भी स्वीकृति है जिसने बौद्ध दर्शन के अनित्यवादी विचारों की पुष्टि में सहायता की होगी। क्योंकि इस विचार का परिपोषण

कीथ के इन विचारों से भी हो सकता है, जिसमें वे कहते है कि उपनिषदों के पश्चात् उस समय अत्यन्त प्राचीन चिन्तकों के विचार को लेकर उन्हें एक निश्चित व्यवस्थित दर्शन का रूप दिया गया[39]। सत् और असत्, मर्त्य और अमृत के विचार में जो सत् नहीं है वह असत् है या कि सत् से भिन्न है। इसी तरह अमृत से भिन्न मर्त्य ही हो सकता है[40]। बेबर तो यहां तक कहते है कि बुद्ध की शिक्षाओं में कुछ भी नया नहीं है। केवल उनके विषय उपस्थापन की विधि और अभिव्यक्ति नई है[41]।

इस सन्दर्भ में इतना अवश्य स्वीकार्य हो सकता है कि वैदिक और उपनिषद् परम्परा में नित्य, अमृत और सतृ की खोज के निरन्तर प्रयास में भी अनित्य, अमृत और असत् की भावना का उद्‌भाव तथा संकेत किया गया है। इस संकेत से यही प्रतिफलित होता है कि प्रारम्भ काल में ऋषियों और मनीषियों को सर्वप्रथम अमृत, अनित्य और असत् की अनुभूति हुई और उसका उन्होंने स्पष्टतः संकेत किया।

---

39. सं. सा. इ. (कीथ), पृ. 594
40. फी. अप. (गोदन), पृ. 227
41. एच. आई. एल. (बेबर), पृ. 289

(ख) महायान सूत्रों में अनित्यता की स्थापना :-

भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात तीन संगतियों में त्रिपिटक का सम्पूर्ण संकलन कर लिया गया था और बुद्ध के उपदेशों का एक निश्चयात्मक रूप स्थिर हो गया था। प्रथम शताब्दी के आस-पास जब बौद्ध दर्शन को अन्य दर्शन दृष्टियों से संघर्ष करना पड़ा और साथ ही अपने मूल विचारों की सुरक्षा के लिए प्रयत्न करना पड़ा, तब दूसरे धर्मो की ही भाँति बौद्ध धर्म में भी भगवान् बुद्ध के देवत्व रूप को स्थापित करने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई और संस्कृत ग्रन्थो के प्रकाशन की ओर ध्यान दिया गया। कनिष्क के राज्य काल में प्रथम शताब्दी में बौद्धाचार्यो के सम्मेलन ने ऐसे ही संस्कृत ग्रन्थों का संकलन किया और त्रिपिटक की भी रचना हुई जिसका उल्लेख हेनसाँग ने बोधिसत्वपिटक के रूप में किया है। तथा शिक्षा समुच्चय भी जिसका उल्लेख करती है[2]। तभी से इस परम्परा के अनुयायियों ने अपने को महायानी कहना प्रारम्भ कर दिया था[3]। यद्यपि तकाकुसु का यह मत है कि कनिष्क के समय में आयोजित संगीति में अट्कथाओं का संकलन किया गया था, त्रिपिटक का नहीं[4]। वर्तमान समय में यद्यपि महायान से संस्कृत में संकलित त्रिपिटक प्राप्त नही है तथापि उपलब्ध नौ महायान सूत्र प्रज्ञापारमिता, सद्धर्मपुण्डरीक, ललितविस्तर, लंकावतारसूत्र, सुवर्णप्रथा, गण्डव्यूह तथागतगुहयक, समाधिराजसूत्र तथा दशभूमिक सूत्र अधिक प्रसिद्ध है। यद्यपि विब्लिमोथका बुद्विका में इन नौ ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य 105 महायान सूत्र ग्रन्थों का उल्लेख हैं[5]।

भगवान् बुद्ध ने जब बुद्धत्व प्राप्त करने के पश्चात् सारनाथ में कौण्डिन्य को अपना प्रथम उपदेश दिया तो ललित विस्तर के अनुसार यह कहा कि " स्कन्धा प्रतीत्य समुदेति हिदुखमेवम्" स्कन्धों के हेतु से केवल दुःख ही उत्पन्न होता हैं।

---

1. हि. इ. लि. 2 (विन्ट.), पृ. 294
2. शि. स., पृ 31
3. स. पु. (दास) भू., पृ. 3.
4. ज. रा. ए. सो. (1905), पृ. 414
5. वि. नु. (12) 65

रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्धे में रूप स्कन्ध में चक्षु, श्रोत, घ्राण जिहवा, काय और मन अनित्य है, दुःख है और स्वभाव शून्य है-

"चक्षुरत्यिम ध्रुवं तथा श्रोतघ्राणं

जिवहापि काय मन दूःख अनात्म (अपि रिक्तस्वभाव), शून्या"[6]

वस्तु की स्वभाव शून्यता के स्थापना के लिये भगवान् बुद्ध द्वारा उपदेशित प्रतीत्य समुत्पाद का भी महायान सूत्रों ने व्याख्यान किया है इस व्याख्यान में यह कहा गया है कि अविधा से संस्कारादि द्वारा समस्त वस्तु जात की कल्पना खड़ी कर ली जाती है और उससे केवल दुःख स्कन्ध का ही उदय होता है[7], क्योंकि यह संसार न जन्म लेता है, न मरता है, न नष्ट होता है, न उत्पन्न होता है, न अस्तित्व में आता है, न चक्कर लगाता है, न अस्तित्वहीन को प्राप्त करता है! न भूत है, न अभूत है, न सत् है, न असत् है, न तथा है, न अन्यथा है, न वितथा है, और न अवितथा। तथागत इस त्रैधातुक संसार को साधारण मूर्खो की तरह न ही देखते है, क्योंकि तथागत इस स्थान पर उपस्थित वस्तुओं में स्वभाव को देखते है[8]।

जैसा भगवान ने पंच स्कन्धों के सम्बन्ध में सुभूति को उपदेश दिया उसी प्रकार से सर्वधर्मो की शून्यता का आख्यान करते हुए भगवान बुद्ध ने यही कहा कि जो शून्य है, वे अक्षम भी है। जो शून्यता है, वही अप्रमेता है, इसलिये समस्त धर्म अर्थतः अथवा नानात्व के रूप में प्राप्त नहीं है केवल इनका अभिलाप मात्र ही होता है। और अप्रमेयता, असंख्येता, अक्षमता, शून्यता, अनिमित्तता, अप्रीणहितता, अनुत्पन्नता, अजातित्व, अभाव, विराग, निरोध अभिलाप मात्र है[9]।

समाधिराज सूत्र में यह सन्दर्भ आता है कि जब चन्द्र प्रभ नाम के एक कुमार ने भगवान से समाधि के विषय में जिज्ञासा प्रकट की थी तो भगवान ने उसे समाधि का स्वरूप बताते हुए कहा था कि समाधि की भावना उसे कहते है जब संस्कृत तथा असंस्कृत धर्मो के भेद को निमित्तार्थ जानकर यह अपनी भावना अनिमित्तिक भावना पर दृढ़ करता है तथा सभी धर्मो को शून्य जानता है[10]। भगवान

---

6. ल.वि., पृ. 419
7. स.पु.(दास) पृ. 321
8. स.पु.(दास) पृ. 321
9. अप्रेयमति वा, असंख्येमिति वा, अक्षयमिति वा, शून्यमिति वा अनिमित्तमिति वा अप्रणिहितमिति वा। अ.सा.प्र.पा., पृ.173

10.स.सू., पृ. 21

तो वही कहते है कि मै ज्ञान से स्कन्ध-शून्यता ही जानता हूँ- ज्ञानेन जानाम्यहुं स्कन्धशून्यतां[11] इस सन्दर्भ में कुमार चन्द्रप्रभ को तर्क देते हुए बुद्ध ने यह समझाने का यत्न किया था कि वे सभी धर्म स्वभाव शून्य है। इनकी अविस्थिति का ज्ञान भावात्मक है, क्योंकि वस्तु सत् के रूप में उनकी उपलब्धि नहीं होती है। शून्यता स्वभावी होने से ये धर्म न तो उत्पन्न होते है औन न नष्ट होते है, क्योंकि शून्यता न उत्पन्न हो सकती है और न नष्ट हो सकती है[12]। जल में उत्पन्न जैसे फेन के पिण्ड को तोड़कर देखा जाये तो उसमें कुछ प्राप्त नहीं होगा। फेन भी स्वयं में अस्तित्वहीन है, क्योंकि आकाश से पृथक-पृथक जल की बूदों की वर्षा होती है और उसी के परिणाम स्वरूप फेन दिखाई देने लगता है। जल के बीच में दिखाई देने वाला फेन न ही उत्पन्न होता है और न नष्ट होने पर कुछ रह जाता है। यही अवस्था वस्तु समूह, जिन्हें भगवान धर्म शब्द से अभिहित करते है, की भी है। समस्त वस्तुओं का न तो उत्पाद ही होता है औन न विनाश[13]।

उत्पत्ति और विनाश की हेतुता का खण्डन करते हुए भगवान बुद्ध ने यह स्पष्ट तर्क दिया है कि जैसे स्वप्न में गन्धर्वपुर की कल्पना और उसके विलास का भाव उत्पन्न हो जाता है किन्तु न वह गन्धर्वपुर होता है और न उसका कोई हेतु। उसी भांति पदार्थो की स्वभावशून्यता होने से इनके हेतु प्रत्ययों की शून्यता का भी ज्ञान करना चाहिए। ऐसे ही चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब वैसा ही जल में देखा जाता है जैसा वह आकाश में प्रकशित होता है किन्तु वस्तुतः जल में वह होता नहीं है।

यथैव गन्धर्वपुरं मरीचिका,
यथैव माया सुपिनं यथैव।
स्वभावशून्यतातु निमित्तभावना,
तथोप्रमान् जानथ सर्वधर्मान्।।
यथैव चन्द्रस्य नभे विशुद्धे,

---

10. स. स., पृ. 21
11. वही, पृ. 32
12. वही, पृ. 39
13. वही, पृ. 70

हदे प्रसन्ने प्रतिबिम्ब दृश्यते।
शशिस्य संक्रान्ति जले न विद्यते,
तल्लक्षणान् जानथ सर्वधर्मान्[14]।।

गण्डव्यूह सूत्रयद्यपि भगवान बुद्धि की स्तुतियों और अन्य बोधिसत्त्वों द्वारा धर्म के उपदेशों के प्रचार की कथा बताता हैं किन्तु इसी क्रम में कहीं-कहीं उसमें भी पदार्थ स्वभाव के विषय में संकेत मिलता है। सुघन नामक श्रेष्ठि पुत्र को, जो भगवान के धर्म के प्रति अधिक अनुरक्तता, भगवान् के विचारों और तथ्यों का निष्कर्ष बताते हुए श्री सम्भवदारक और श्रीमती दारिका ने यह कहा था कि कुल पुत्र हमने इस सम्पूर्ण लोक को केवल मायागत ही जाना है और यह हेतु प्रत्यय की मायात्मकता से ही सम्भूत होता है- "तावावां कुलपुत्र अनेन विमोक्षेण समन्वागतौ मायागंत सर्वलोकं पश्यावो हेतु प्रत्ययमायासंभूतम्"[15]।

यह सब जो दृष्टिबोचर होता है वह सत् नहीं है। असत् रूप है। संकल्प जनित होने से ही केवल पदार्थो का अस्तित्व दिखाई देता है। माया की मायात्मकता से सर्वक्षेत्र दृष्टिगोचर होते हैं-असदभूत-संकल्प मायाजनितानि सर्वक्षेत्राणि पश्याव:[16]।

पूर्व की भाँति दिए गए तर्को का आधार गण्डव्यूह में भी लिया गया हैं और समूह की असत्ता का विवेचन किया गया है। और उसे ही श्रेष्ठ तथा बुद्ध धर्म का मर्म कहा गया है जो सर्वधर्मो की अनुरूपता के नप को जानता है, आकाश का परिज्ञान रखता है[17]। सभी धर्मो में ऐसी ही दृष्टि रखना जैसी आकाश के अस्तित्वहीनता के सम्बन्ध में होती है-सत्यदृष्टि है।

अब हम लंकावतार सूत्र में भगवान् बुद्ध के उन उपदेशों का तत्व भी इसी दृष्टि से अवगत कर सकते है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वस्तु मात्र की सत्ता का ध्यान सूत्रो में निषेध किया गया है। महामति बोधिसत्व को उपदेश देते समय भगवान बुद्ध ने यह स्पष्ट किया कि जैसे समुद्र के जल में पवन से प्ररित

---

14. स. सू., पृ. 46-47
15. ग. सू., पृ. 360
16. ग. सू., पृ.360
17. वही, पृ. 372

होकर अनेकों लहरें अविच्छिन्न गति से उत्पन्न होती हैं किन्तु वे जल के अतिरिक्त कुछ नहीं होती, इसी तरह जैसे सूर्य की किरण लाल, पीली, हरी, नीली दिखाई देती है किन्तु मूलतः वह किरण ही होती है इसी तरह संसार और इसमें दिखाई देने वाला वस्तु-वैचिन्य केवल चित्त की संयुक्तता से विज्ञान की ही कल्पना है। परन्तु जैसे समुद्र की तरंगों का और सूर्य की किरणों के रंग का कोई अस्तित्व नहीं है, उसी भाँति चित्त की कल्पना का वस्तु रूप में कोई परिणाम नहीं होता है। चिन्त से कर्म का चयन होता है, मन से उसका चिन्तन होता है, विज्ञान से वस्तु का ज्ञान किन्तु यह सभी कल्पित है इसका अस्तित्व नहीं है-

चित्तेन चीयते कर्म मनसा च विचीयते।
विज्ञानेन विजानाति दृश्यं कल्पेति पञ्चभिः[18]।।

जहां तक वस्तुओं की हस्वता, दीर्घता, लघुता और गुरूता का प्रश्न है यह सभी अन्योन्याश्रित ज्ञान है जैसे का दीर्घ ज्ञान हस्व के बिना नही हो सकता गुरू का ज्ञान लघु के बिना नही हो सकता उसी तरह अस्ति और नास्ति का परिकल्पन है अस्ति की अस्तितः नस्तित्व पर और नास्ति का नास्तित्व अस्तिस्व पर अवलम्बित है जिन दार्शनिक ने वस्तु के अस्तित्व को अणु, रूप में कल्पित किया है, बुद्ध ने उनका खन्डन कर यह कहा है कि अणु का विखण्डन होने पर भी उसमें रूप की कल्पना नहीं हो सकती। वह केवल चित्त की कल्पना का ही फल है, वस्तु रूप में अस्तित्व का अभाव है[19]।

भगवान् बुद्ध ने वस्तु की असत्ता की सिद्धि के लिए आरोपापवाद दृष्टि के विचार के विचार से भी विवेचन किया हैं। वस्तु में असत् का आरोप चार प्रकार से कहा है- असल्लक्षण समारोप, असद दृष्टि असद हेतु समारीय तथा असदभावसमारोप। इस चारों तरह से वस्तु की भावात्मकता का खण्डन करते हुए भगवान् ने कहा कि स्कन्ध, धातु, आयतनों में असत् का सामान्य लक्षणारोप ही असदारोप है। "यदुत स्कन्धधा त्वायतनामामसत्वसामान्यलक्षणाभिनिवेशः - इदमेवमिदं नान्यथेति"। इसी तरह से

---

18. ल. स., पृ. 21
19. वही, पृ. 32-33

असद् दृष्टि का आरोप, में अहेतु उत्पन्नता का आरोप असद्भावारोप में आकाश, निरोध, निर्वाणवद्, अकृतक का आरोप होता है[18]।

इस प्रकार से भगवान् बुद्ध ने वस्तुओं के सत् और असत् का निषेध कर जो मध्यम मार्ग का उपदेश दिया था, महायान सूत्रों में उसे व्याख्यात् करके सात प्रकार से समझाया गया। लंकावतार सूत्र में वस्तुओं की लक्षणशून्यता, भाव स्वभाव शून्यता, अप्रचारित शून्यता, प्रचरित शून्यता, सर्वधर्मनिरमिलाप्यशून्यता, परमार्थ ज्ञान महाशून्यता और इतरेतर शून्यता के रूप में वस्तुशून्यता, की स्थापना कर भगवान् की यह वाणी उद्घृत की गई कि-

देशेभिशून्यतां नित्यं शाश्वतोच्छेदवर्जिताम्।
संसारस्वजमायारणं न च कर्म विनश्यति।
आकाशमथ निर्वाणं निरोधं द्वयमेव च।
बालाः कल्पेन्त्यकृतकानार्था नास्त्यस्तिवर्जितान्[19]।।

वस्तु की हेतु प्रत्ययजन्यता को लंकावतार सूत्र ने प्रतीत्यसमुत्पाद नय के माध्यम से बाहय और आध्यात्मिक रूप में दो प्रकार से कहा है। इसमे से संसार में मिट्टी चक्र, दण्ड, सूत्र और कुम्भकार के प्रयत्न से घट उत्पन्न होता हुआ दिखाई देता है। उसी तरह तन्तुओं से पट, बीज से अंकुर, मन्यादि से दधि उत्पन्न होता है और इस भाँति पूर्व से उत्तर वस्तु की उत्पत्ति ही बाहय प्रतीत्य समुत्पाद नय है - एवेमेव महामते बाहयः प्रतीत्य समुत्पादः पूर्वोत्तरोत्तरे द्रष्टव्यम्।

आध्यात्मिक प्रतीत्य समुत्पाद के सम्बन्ध में महामति को भगवान् ने यह उपदेश दिया था कि अविद्या, तृष्णा, कर्म ही आदि प्रत्यय है। इनके हेतुत्व से ही धर्म उत्पन्न होते है। इनमें उत्तर उत्तर उत्पन्न धर्म, स्कन्ध, धातु और आयतन की संज्ञा पाते है, किन्तु ये सभी और अवशेष अन्य धर्म केवल वालों की कल्पना है[20]।

त्रिपिटक में प्रतीत्य समुत्पाद तय वस्तु असत्ता की स्थापना में यह स्थापित

---

18. ल. स., पृ. 21
19. वही, पृ. 32-33
20. लँ.सू. पृ. 35

करता है कि वस्तु की सार्वकालिक सत्ता केवल अविद्या दृष्टि से ही प्रतीत होती है जबकि अविद्या से संस्कारादि का उत्पाद होता है और अविद्या दृष्टि से संस्कारादि का निरोध होता है।

लंकावतार सूत्र में प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त की व्याख्या में यह नवीनता देखी जा सकती है कि यहां प्रतीत्य समुत्पाद को बाहय और आध्यत्मिक प्रतीत्य समुत्पाद के रूप में प्रस्तुत किया गया। आध्यत्मिक प्रतीत्य समुत्पाद की व्याख्या में अविधा, तृष्णा और कर्म को आदि हेतु मानकर धर्मो की उत्पत्तिक्रम का उपस्थापन किया गया है और इन सभी धर्मो की कल्पना को केवल व्यवहार मात्र कहा गया है क्योंकि महायानियों का यह मत है कि जब आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाता है तो आकाश, कुसुम, बन्ध्यापुत्र की भांति ही वस्तु की कल्पना है, इसमें ग्राहय-ग्राहक का भी सम्बन्ध नहीं ठहरता। न कुछ उत्पन्न है, न कुछ उत्पाद है। हेतु प्रत्यय भी वस्तुतः कुछ नहीं है। जो कुछ दिखाई देता है, व्यवहार्य होता है, वह व्यवहार मात्र ही है[21]।

महामति ने भगवान् से यह प्रश्न किया कि पदार्थो का सद्भाव न होगा तो उसका अभिलाप या व्यवहार कैसे सम्भव होगा, क्योंकि सद्भाव होने से ही अभिलाप सम्भव होता है। इस शंका का समाधान करते समय भगवान बुद्ध ने कहा कि असत् पदार्थो का भी अभिलाप होता है, क्योंकि शशिश्रृंग, कूर्मरोम तता वन्ध्या पुत्र का अभिलाप वस्तु की असत्ता होने पर भी होता है। ये न भाव होते है न अभाव केवल अभिलाप मात्र ही होता है-असतानामपि महामते भावनामभिलापः क्रियद्र। यदुत शशविषाणकूर्मरोमवन्ध्यापुत्रादीनां लोके दृष्टोऽमिलापः। ते च महामते न भावा नाभावाः, अभिलप्यन्ते च[22]। इस सन्दर्भ में और भी उदाहरण दिए गए है, जिनसे वस्तुमात्र की सद्वस्था का निषेध कर उसे भावाभावतीत कहा गया है। दर्पण में, जल में, नेत्रों में और मणि में बिम्ब दिखाई देता है किन्तु वस्तुतः यह बिम्ब होता नहीं है। पदार्थ की सत्ता का आभास चित्र में उसी भांति होता है जैसे दूर से देखने पर ग्रीष्म में मृगतृष्णा का आभास होता है। यह चित्र-विचित्र रूप में दिखाई देता है

---

21. सविघते क्वचिद् केचिद् व्यहारस्तु कथ्यते। ल.सू. पृ. 36, 44
22. वही पृ. 40, 43, 108, 119

किन्तु उसी तरह उसकी अवस्थिति निरर्थक है, जैसे वन्ध्यापुत्रकी[23]।

इस प्रकार से यदि निष्कर्ष रूप में वस्तु की सत्ता के विषय में महायानसूत्रों के निष्कर्ष का आकलन किया जाय तो यह कहना संगत होता है कि महायान सूत्रों ने वस्तु क अस्तित्व को शून्य स्वभाव का कहकर यह माना है कि वस्तुतः वस्तु का पारमार्थिक अस्तित्व नहीं है। जल में उत्पन्न होने वाले फेन, विघुत की चमक और मृगमरीचिका के सदृश ही वस्तु का केवल अभिलाप मात्र होता है जबकि पारमार्थिक अस्तित्व नहीं है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्धों की कल्पना को भी महायान सूत्रों में इन्हें शून्य स्वभावी कहकर अस्ति और नास्ति के अन्तों से विरहित कहा है, क्योंकि वस्तु का स्वभाव शून्यात्मक है और पंचस्कन्ध भी स्वभाव शून्य है अतः इनकी सिद्धि भी किसी प्रमाण से करना सम्भव नहीं है। इसी लिये समाधितत्व सूत्र ज्ञान से स्कन्ध शून्यता जानने का तर्क देती है[24]।

संसार का समस्त रूप जो उत्पत्ति और विनाश के क्रम में दृष्टिगोचर होता है की संगति ''सर्वशून्यम्'' कहने से कैसे होगी-इस प्रश्न का भी महायान सूत्र यह कहकर उत्तर देते है कि जैसे स्वप्न में गन्धर्वलोक का सृजन हो जाता है और जागृत होने पर उसका विनाश। उसी तरह चित्त की कल्पना मात्र से यह संसार का उत्पत्ति विशान क्रम भी कल्पनीय है[25]।

भगवान बुद्ध के मूल वचन, जिन्हें त्रिपिटक के रूप में संकलित किया गया है, यह कहते है कि पंचुपादान स्कन्ध दृःख है। और इस तरह यावत् जगत का जो रूप है वह दृःख ही है[26]।

महायान सूत्रों की दृष्टि से वस्तु का किसी भी काल में प्रज्ञापन नहीं हो सकता। उनकी दृष्टि से शून्य अनित्य क्षणिक सभी बाल जनों की कल्पना है-

शून्यमनित्यं क्षणिकं बालाः कल्पेन्ति संस्कृतम्[27]।

---

23. स. सू., पृ. 32
24. स. सू., पृ. 32
25. वही, पृ. 46-47
26. सं. नि. 2 (क.), पृ. 408-410
27. लं. सू., पृ. 43, 65

सभी धर्मो का केवल उसी तरह अभिलाप मात्र होता है जैसे आकाश शशिश्रृंग और वन्ध्यापुत्र के अनस्तिव होने पर भी उनका वाग् व्यवहार होता है। वस्तुतः इनकी सत्ता ही नहीं है। हेतु प्रत्यय की कल्पना को भी जिसे त्रिपिटक में ''इमस्मिंसति इदं भवति'' के रूप में व्याख्यात किया है, महायान सूत्र बाल कल्पना ही कहते है और यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते है कि हेतु-प्रत्यय से वस्तु उत्पत्ति की कल्पना सत्य नहीं है। और इस प्रकार वे यही कहते है कि केवल कलाप (समूह) के अतिरिक्त कोई भावविघमान नहीं है। सद्, असद्, सदसद् की उत्पत्ति-लय की स्थिति ही नहीं हो सकती और इनकी अस्तित्व की कल्पना ठीक नहीं है। केवल समूह की कल्पना ही होती है जो अस्ति-नास्ति और उभय भेद से व्याप्त नहीं है।

(ग) अनित्यता का समेकित स्वरूप :-

मै कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ इस संसार का यथार्थ स्वरूप क्या है और यदि यह संसार इसी रूप में विद्यमान रहता है तो क्या यह नित्य है अथवा अनित्य इस प्रकार की जिज्ञासा अनादि कालिक है तथा समय-समय पर इस प्रकार की जिज्ञासाओं के समाधान दिए जाते रहे है। इन समाधानों में कभी सत् और कभी असत् भावी विचारों की अभिव्यक्ति निरन्तर हुई और उसी के प्रतिफल में अन्य अनेक विषयों के साथ इस देश के प्रारम्भिक ग्रन्थों वेदों तथा उपनिषदों में नित्यानित्य का विचार किया गया।

वैदिक कालीन ऋषियों ने जब इस सब पर विचार किया तो उन्होंने इस संसार और इस संसार के पदार्थ-समूह को कभी नित्य कहा और कभी अनित्य कहा। कभी उन्होंने यह कहा कि यह सृष्टि और इसके पदार्थ आदि में अपनी उत्पत्ति के पूर्व असत् थे और कभी कहा कि इस सृष्टि के आदि में सद् व्याप्त था। कहीं-कहीं पर तो स्पष्ट रूप में यह कहा कि संसार में परिव्याप्त पंच महाभूत क्षणस्थायि है और अनृत स्वाभावी है[1]।

सृष्टि के उस काल खण्ड मे जब सभ्यता का भंली प्रकार से विकास भी नहीं हुआ था और ऋषियों ने प्रकृति के विविध उपादानों में ही देवभावना की अनुभूति कर ली थी, तब वे विविध देवताओं की जो स्तुतियां करते थे उनमें ही कभी-कभी नित्यानित्य का विचार प्रकट हो जाया करता था। जैसे कहा गया था कि हमारी स्तुतियां उन देवताओं को है जो देव प्रभा से मण्डित है, किन्तु फिर यह प्रश्न उपस्थित कर दिया गया कि क्या ऐसा कोई देवता है जिसकी हम स्तुति करें।। यह हविष्यान्न हम किस देवता को देवें।[2] ऐसी ही भावना सृष्टि के पदार्थो के प्रति भी थी और इसी भावना से यह कहना संगत हो सकता है कि तब नित्य-अनित्य के बीच में द्विविधाग्रस्त ऋषियों का मन कहीं न कहीं अनित्यता के विचार से समन्वित अवश्य होता था।

---

1. कृ.य.तै.सं. 2/1/5/35, छान्दो. 8/3/1
2. ऋग् 10/121/1-2

इसी प्रकार से उपनिषदों के चिन्तन का लक्ष्य यद्यपि नित्यता का अन्वेषण और जीवों के द्वारा अमरत्व की प्राप्ति था, किन्तु अनेकानेक संकेतों से तथा मृत्यु आदि के कथनों से यह संकेत वहां भी दिया गया है कि जो मृत्यु का ग्रास बनता है, वह अवश्य ही अनित्य स्वभावी होता हे। ईशोपनिषद् में तो सम्भूति और असम्भूति का कथन करते हुए सम्भूति को अनित्यता से पृथक कहने का अभिप्राय ही यह प्रकट हुआ है कि सम्भूति अर्थात् जो नित्य है, वह अनित्यता से पृथक है[3]।

उपनिषद् परम्परा नित्यता, सत्यता, अमृतत्व की अन्वेषण की परम्परा है किन्तु इसके अन्वेषण की तथा नित्यता की स्थापना की यर्थाथ परिणति भी तो तभी हो सकती है, जब अनित्या का ज्ञान कर लिया जाए और नित्यता को उससे पृथक् कर दिया जाए। अनेक ऐसे स्थल हैं जहां पर उपनिषद् स्पष्ट रूप से यह कहते है कि जहां उस सत् तत्व के अतिरिक्त देखता है, अतिरिक्त सुनता है, अतिरिक्त जानता है, वह सभी अल्प है। और जो अल्प है वह मर्त्य है अर्थात मरण धर्मा है। जो अल्प से पृथक है, वह भूमा है और सद् स्वभावी है[4]। एक अन्य स्थान पर आत्मा के पुनर्जन्म का संकेत करते हुए यह कहा गया है कि मृत्यु के अनन्तर आत्मा पुनर्जन्म गृहण करती है। इसी प्रकार आत्मा एक जन्म छोड़कर जिस मार्ग से जाती है तथा दूसरा जन्म धारण करती है, उस मार्ग का वर्णन विस्तार से किया गया है[5]।

यद्यपि उपनिषद् सत्य का अन्वेषण करना चाहती है और उसके लिए प्रयत्नशील भी है किन्तु ऐसा करने में उनकी प्रवृति इसलिए हुई क्योंकि उन्होनें जगत् और जगत में व्याप्त चेतना का अनत्यित्व पहले अनुभव किया है और उसके भय से मुक्त होने के रूप में सत्य की ओर बढ़े। इसलिये वे कहती हैं कि जो सत् है, ध्रुव है और सदा एक स्वभावी है, उसका आश्रय लेना चाहिए, वहीं मनुष्य के लिए अन्वेषणीय तथा प्राप्त करने योग्य है।

भगवान बुद्ध के उपदेश की शैली तो इस प्रकार की है जिसमें वे किसी भी पदार्थ को न सत् कहते है और न असत् कहतें है। इसीलिए जब उनका उपासक

---

3. संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
   विनाशेन मृत्यु तीर्त्वा संभूत्यामृत मश्नुते।। ई (उ.स.) पृ. 39
4. यत्रान्यपश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।
   बृह. (उ.स.), पृ. 762
5. कौषी (ई.वि.) 1

पोट्ठपाद उनसे प्रश्न करता है कि भगवान यह संसार सत् है अथवा असत्[6] तब भगवान बुद्ध कहते है कि पोट्ठवाद ये प्रश्न अव्याकरणीय है। ऐसे प्रश्नों का सम्बन्ध न तो विराग से है और न ही ऐसे प्रश्नों का सम्बन्ध मोक्ष से ही है। निरोध प्रतिपन्ति और शान्ति के लिए भी ऐसे प्रश्नों का कोई महत्व और अर्थ नहीं है।[7]

भगवान बुद्ध का यह कहना कि यह संसार दुःखात्मक है, जन्म जरा, अप्रिय-मिलन, प्रिय वियोग आदि के रूप में यहां सभी कुछ दुःखात्मक है। इसलिए इस दुःख के हेतु और उसके छूटने के उपायों के विषय में विचार करना चाहिए। ऐसा करना ही मनुष्य के लिए करणीय है। संसार नित्य है अथवा अनित्य, ईश्वर है अथवा नहीं, जन्म लेने के बाद जो मृत्यु पाते हैं, उनका पुनर्जन्म होता है कि नहीं, इन प्रश्नों का जीव के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है और न ही, इन प्रश्नों के समाधान का मनुष्य के जीवन पर कोई सीधा प्रभाव पड़ता है। इसलिए वे कहते है कि ऐसे प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं देखता। यहाँ पर केवल दुःख सत्य ही है[8]।

फिर भी बौद्ध ग्रन्थों में अनित्यता का संकेत किया गया और वही बाद में संस्कृत परम्परा में तथा बौद्ध दार्शनिक दृष्टि में अनित्यवादी विचार धारा के रूप में स्वीकृत हुआ। जैसा कि भगवान बुद्ध राध्य नामक एक उपदेशक को उपदेश देते हुए यह कहते है कि रूप अनित्यधर्मी है, वेदना अनित्यधर्मी है, संज्ञा अनित्यधर्मी है। इस प्रकार जो जानता है, वह रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को जानता है तथा इन को इस रूप से जानकर विमुक्त हो जाता है[9]। इस प्रकार से प्रारम्भिक काल से लेकर भगवान बुद्ध के अवतरण तक अनित्यता की विचारधारा एक प्रकार से आकार ग्रहण कर चुकी थी।

---

6. दी.नि. 1 (क.) पृ. 156-157
7. वही, पृ. 13
8. खु.नि. 5 (क.), पृ. 146
9. रूपं खो राध! अनिच्चधम्मों, वेंदना अनिच्चधम्मों, संञ्आ अनिच्चधमों, संड.खारा अनिच्चधम्मो, विञ्आणं अनिच्चधम्मों। सं.नि. 2 (क.), पृ. 408-409

द्वितीय अध्याय
(आत्मान्वेषण के विविध रूप)

(क) वेदों और उपनिषदों में आत्मान्वेषण

(ख) त्रिपिटक ग्रन्थों में अनात्मता

(ग) अनुपिटक साहित्य में अनात्मता

(घ) महायान सूत्रों में अनात्मता

द्वितीय अध्याय
(आत्मान्वेषण के विविध रूप)

(क) वेदों और उपनिषदों में आत्मान्वेषण:-

भारतीय साहित्य के क्षेत्र में वेदों की प्राचीनता असंदिग्ध रूप से स्वीकृत हैं। भारतीय परम्परावादी, जो वेदों का स्वतः प्रामाण्य स्वीकार करते है, वे यहाँ तक कहते है कि भूत, भविष्य, वर्तमान, चातुर, वर्ण, तीनो लोकों में सभी व्यवहार वेदों से ही अनुप्रमाणित हैं[1]। यद्यपि वेदों से परवर्ती काल में सभी विचारधाराओं के मूल को संयोजित करने की परम्परा चाहे भले ही रही हो, किन्तु मुख्य रूप से वेद देवताओं की स्तुति-गान से मण्डित है। देवता भी मुख्य रूप से वे ही हैं, जो प्रत्यक्षतः प्रकृति से सम्बन्धित हैं और उस समय प्रकृति पर आधारित जीवन में जिनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। भौतिक वादिता की अभाव-स्थिति ने तथा जीवन की प्रारम्भिक अवस्था ने उस समय के मनुष्य-जीवन को पूर्णतः प्रकृति का मुखापेक्षी बना दिया था। इसलिये प्रकृति के ही अंग, सूर्य, अग्नि, उषस्, वायु आदि देवता मुख्य रूप से वेदों में स्तुत किये गए हैं। वेदों की प्रारम्भिक अवस्था में जब प्रकृति के परिवर्तनों में उस समय जीवन की संगति बैठाने में कठिनाई होती होगी, तो इन्हीं प्रकृति-देवताओं से जीवन में सुख-समृद्धि के लिए याचना करते होगें। यही कारण रहा कि इन देवताओं के प्रार्थना मंत्रों में इनकी अपूर्व शक्तिमत्ता और क्षमता का दर्शन होता है।

इस प्रवृत्ति और अपने अभिप्रेत देवता की सर्वोच्च सत्ता की स्थापना का रूप

---

1. मनु. पृ. 651

हम इस प्रकार देख सकते है, जिसमें वैदिक ऋषि आप देवता की प्रार्थना करता हुआ यह कहता है कि जल ने पहले अपने गर्भ में यह सभी धारण किया जिससे विश्व और देवता बाद में उत्पन्न हुए। उसी जल देवता में समस्त भुवन स्थित हैं[2]। इस प्रकार वात देवता की प्रार्थना करते हुए उसके प्रभाव का आख्यान करते हुए ऋषि ने कहा कि वात देवता सभी देवताओं की आत्मा है। वह चाहे जहाँ अपने अनुकूल जा सकता है। उसकी ध्वनी ही सुनाई देती है, उसका रूप नहीं दिखाई देता है[3]। जब सूर्य की प्रार्थना में ऋषियों ने अपनी वाणी का प्रयोग किया तो सूर्य देवता को ही समस्त जगत् की आत्मा कहा गया-"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"[4]। किन्तु जब अग्नि का स्तवन किया जाता है तो उसे इस सृष्टि का उपादान कारण मानकर यह कहा जाता है कि अग्नि ही सम्पूर्ण जगत् की निर्माण कर्त्री है। इसी अग्नि से ही समस्त स्थावर-जगत का जन्म होता है और उसी अग्नि में ही सभी का विलय हो जाता है[5]। इसी प्रकार जब इन्द्र की स्तुति की गई तो उसके स्वरूप का वर्णन करते हुये कहा गया कि यह इन्द्र पृथिवी को सुस्थिर रखता है, पर्वतों के उपद्रव को शमन करता है अन्तरिक्ष की इयता को जानता है और आकाश का स्तम्भन करता है[6]।

भिन्न-भिन्न देवताओं के लिए किए गए इन स्तुति गानों से जहाँ उस आदिम युग की यह प्रवृत्ति प्रकट होती है कि है कि वे प्रकृति से ही उसके विपरिणामों से सुरक्षा के लिए उसी शक्तिशाली तत्वों की प्रार्थना कर आश्वस्ति पाना चाहते थे, वहीं यह भी अनुभव किया जा सकता है कि इन्हीं देवताओं के बीच से वे किसी सर्व समर्थ और एकीभूत देवता के अन्वेषण में अग्रसर हो रहे थे, जो सर्व समर्थ, एक, सत् और नियन्ता हो। क्योंकि उनकी इस प्रवृत्ति का साक्ष्य उन मन्त्रों से प्रकट

---

2. ऋ. 10/82/6
3. ऋ. 10/168/4
4. वही, 10/168/4
5. ऋ. 10/115/1
6. वही, 2/12/2

होता है जिनसे वे यह कहना चाहते है कि इन्द्र, मित्र, वरूण, अग्नि आदि सभी एक है केवल विप्र विचारक उसे अनेकशः कहते है-एकं सद विप्रा बहुधा वदन्ति।''[7] अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रहम, आप और प्रजापति वहीं है[8]। यह सभी एक ही है कहकर वे किसी एक सतृ तत्व का अन्वेषण करने को उत्सुक है। बहु देवताओं में से एक तत्व के विश्चिय और आधार-प्राप्ति के लिए उनका यह प्रयत्न इसलिए भी संगत लगता है, क्योंकि अब तक के सभी देवता अपनी-अपनी सीमाओं में भिन्न-भिन्न ऋषियों के मत से शक्तिमान् अवश्य थे किन्तु उनकी सर्वातिशायिनी शक्ति संन्देहास्पद थी। ऋग्वेद की बहु रूप स्तवन की प्रवृत्ति इसीलिए किसी एक देव में, जो सत् और एक ही हो अपनी आस्था टिका देना चाहती थी। मैक्डानल ने भी यही संमति व्यक्त की है कि ऋग्वेद काल के समाप्त होते-होते ऋषियों का बहुवेदवाद एकेश्वरवाद में परिणत हो रहा था[9]।

इस प्रक्रिया में जबकि किसी एक तत्व सत् के विनिश्चय का आभास सा होने की अवस्था पूर्ण हो रही थी, एक नई विचार-सरणि इस रूप में विकसित हुई, जिसमें देवताओं के स्वरूप और सत् तत्व के सातत्य परक विचार में ही सन्देह की भावना ने जन्म लिया। इस परिपेक्ष्य में सर्वप्रथम इन्द्र जैसे सामर्थ्य शील और प्रतापी देवता के लिए ही कहा गया कि हमारी प्रार्थना उस इन्द्र के लिये अर्पित है यदि सचमुच में इन्द्र का कोई अस्तित्व हो। नहीं, इन्द्र का उस प्रकार का अस्तित्व नहीं है[10]।

देवताओं के अस्तित्व और सार्व कालिकता के प्रति की जाने वाली शंका के साथ-साथ यह भी प्रश्न किया जाने लगा कि ये सृष्टि कहाँ से हुई। आदि समय में

---

7. ऋ. पृ. 75
8. यजु. 32/1
9. सं.सा. इ.(मैक्डा.), पृ. 58
10. ऋ. 8/100/3

सृष्टि का सत् स्वरूप था या असत्? इसका निर्माता कौन है। यहाँ यह विशेष विचारणीय है कि पहले देवताओं को सृष्टि का उत्पादक कहा गया और फिर उन्हीं देवताओं के अस्तित्व में शंका की जाने लगी, इसीलिए साथ ही साथ सृष्टि के आदि कारण के स्वरूप के विषय में भी जिज्ञासा प्रकट की जाने लगी। यह सृष्टि कहाँ से हुई, किसने इसकी रचना की है, किसी ने इसकी रचना भी की है कि नहीं की है? इसका अध्यक्ष कौन है। वह इसे स्वयं जानता है या नहीं जानता[11]। यहाँ केवल सृष्टि के आदि तत्व के प्रति ही शंका और जिज्ञासा नहीं व्यक्त की गई अपितु इसका यदि कोई सर्जक है तो स्वयं यह जानता है कि नहीं जानता-"सो अंय वेद यदि वा न वेद"। इसी भाव की स्पष्टता इस ऋचा में और विस्तार से है जिसमें ऋषि से कहा गया कि कृपा कर हमें यह बतायें कि कौन सा वह वन था और कौन सी वह लकड़ी जिससे धावा पृथिवी निर्मित हुई। आप महर्षि है, मनीषी है, हमें स्पष्ट रूप से बतावे कि सृष्टि का निर्माता किस आधार पर खड़ा था और कैसे उसने सम्पूर्ण भुवनों की रचना की[12]।

वह प्रजापति है जो आत्मा का आविर्भावक है, जिसने जीवन तत्व तथा बल प्रदान किया तथा सम्पूर्ण विश्व जिसकी उपासना करता है। जिसके अंशभूत समस्त देवता है और जिसकी छाया अमृत तथा मृत्यु है। वह कौन देवता है जिसे हम हवि प्रदान करें।-"कस्मै देवाय हविषा विद्येम"[13]। प्रजापति, जो वाद में वेदों में अपना मण्डित स्वरूप प्रकट करते हैं, ऋग्वेद में भी प्रतिष्ठित है और वहाँ उस देवता के सर्वातिशायी स्वरूप के प्रति शंका का भाव देखा जाता है। कुछ विद्वान यह मान्यता रखते हैं कि प्रजापति का यह स्वरूप परवर्ती विकास का स्वरूप है[14]।

---

11. ऋ., 10/159
12. वही, 10/81/4
13. वही, 10/121/2
14. ऋ. पृ.122

अन्य और भी ऐसे स्थल है जिनमें देवताओं और सृष्टि के आदि रूप के ज्ञान के लिए जिज्ञासा व्यक्त की गई है और यह प्रश्न किया गया हैं कि यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई, इसकी उत्पत्ति को कौन जानता है। देवता तो सृष्टि की उत्पत्ति के बाद हुए है[15]।

इन उपरिलिखित साक्ष्यों के सन्दर्भ में यह धारणा व्यक्त करना संगत प्रतीत होता है कि शनैः शनैः देवताओं के परिवर्तनशील स्वरूप में तथा सृष्टि की विनाशक और अध्रुव स्थिति ने उन ऋषियों के मन में कुछ ऐसे परम तत्व के अन्वेषण की जिज्ञासा उत्पन्न की जो अपरिवर्तित, ध्रुव और सत् हो। यही कारण रहा है कि अपनी ही पूर्व धारणों में सत्ता तथा एक तत्व में अभाव का बोध उन्हें देवताओं और सृष्टि के यथा तथ्य रूप में जानने की जिज्ञासा जगाने लगा और वे थोड़ा सचेष्ट होकर इनकी यथा तथ्यता की परख करने लगे।

जिज्ञासा की शांति के लिए सृष्टि के मूल तत्व की जब खोज की जाने लगी तो पृथक-पृथक ऋषि उसे भिन्न-भिन्न रूप में बताने लगे। एक ऋषि ने कहा कि उस समय न असत् था न सत्, न रजस्, न व्योम, न कोई गति थी, न कोई स्थान न कोई प्रेरक - "नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं । नासी द्रजो नो व्योमा परोयत् । परन्तु इस कथन में ऋषि का अपना कोई निश्चय व्यक्त नहीं है। वे स्वयं शंकास्पद अवस्था में ही यही कहते है कि क्या आदि में गम्भीर जल था या कि गम्भीर शून्य [17]। जबकि दूसरे ऋषि ने कहा कि तब अन्धकार ही अन्धकार से सभी कुछ आवृत था, सम्पूर्ण संसार अव्यक्तावस्था में था अथवा जल ही था- तम आसीन्तमसा

---

15. ऋ., पृ. 201

17. ऋ., 10/129/1

गूथहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्व मा इदम्''[18]। एक अन्य ऋषि ने कहा कि ब्रहमणस्पति ने लुहार की भांति सकल सामग्री को एकत्रित कर अखिल जगत् का निर्माण किया। देवताओं के भी पूर्व असत् से सत् की सृष्टि हुई[19]।

इन उद्धरणों में यह चिन्तन धारा परिलक्षित होती है कि वैदिक ऋषि धीरे-धीरे बहु देवता की मान्यता से जब एक देवता की कल्पना में भी अपने चिन्तन को पूर्णतः न पा सका तो वह उनके स्वरूप को तथा सृष्टि के परम रूप को और सूक्ष्मता से विश्लेषित करने की और प्रवृत्त हुआ। उसकी यह प्रवृत्ति अपने-अपने विचारों के अनुरूप कभी असत् से सत् की उत्पत्ति तो कभी दोनों का ही नकार तो कभी देवताओं से संसार की रचना कहता रहा, किन्तु इन विकल्पों में किसी एक पर उसका मत स्थिर नहीं हुआ और अन्ततः वह पूर्ण सांसारिक दृष्टि से यह भी कह गया कि सर्वप्रथम काम (इच्छा) का प्रादुर्भाव हुआ जो प्रपन्च जगत् में बीज रूप में परिणित हुआ। तब मनीषियों ने अपनी बुद्धि से विचार कर असत् से सत् की उत्पत्ति मान ली-''कामस्त दग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं मदासीत्''[20]। इसी तरह अथर्ववेद में मन्त्र में काल की ही व्यापकता और सर्वाति शयता का वर्णन करते हुए यह बताया गया कि काल ने ही व्योम को, लोकान्तरों को वर्तमान, भूत और भविष्य को बनाया[21]।

इस काम और काल की सर्वातिशयता की कल्पना में जहाँ हम अस्पष्टता के साथ चिन्तन का एक बढ़ता हुआ विकासात्मक रूप देखते है जो सूक्ष्मतम तत्वों को

---

18. वही, 10/129/3
19. वही, 10/72/2
20. वही, 10/129/4
21. अथर्व 19/53/5-6

स्वीकार करता जाता है और प्रथम रूप में स्वीकार किए गए अन्वेषणों को नकारता जाता है वहीं स्पष्टता के साथ अथर्व वेद के वे स्थल पुसप के अंग के निर्माण के विषय में प्रश्न करते है और उसके उत्तर के लिए सचेष्ट दिखाई देते है जहाँ पूछा जाता है कि पुरूष की एड़ियां, यह चर्म, उसके टखने और कोमल उगलियां किसने बनाई? आखिर यह किसकी कल्पना है फिर यह कह दिया जाता है कि सम्भवतः पुरूष ब्रहम रूप होकर यह सब करने का सामर्थ्य पा लेता है[22]।

वेदों की यह विचार सरणि, जिसमें प्रकृति के मुख्य तत्व देवता रूप में स्तुत हुए और फिर एक देवता के अन्वेषण की प्रवृत्ति के साथ उनके अस्तित्व में शंका कर सत्, असत् काम, काल तथा पुरूष को सर्वातिशय शक्ति के रूप में स्वीकार करते रहे तथा उससे इतर तत्वों का निषेध कर और आगे बढ़ते रहे, यह प्रदर्शित करती है कि उस समय के ऋषि किसी तत्व के अन्वेषण में अग्रसर होते जा रहे थे किन्तु सत्, व्यापक और चिन्मय तत्व के अभाव ने निषेध की जो प्रकृति उत्पन्न कर दी थी यदि इसी प्रवृत्ति ने आगे के चिन्तन को आधार दिया हो तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए। इस सम्बन्ध में वेदों से बहुत अधिक दार्शनिक विचारों की पुष्टि की आशा भी नहीं करनी चाहिए, जैसा कि विन्टर नित्ज कहते है कि सत्य की जिज्ञासा से प्रेरित होकर अथवा सृष्टि के गूढ़ रहस्यों के समाधान की आकांक्षा से इन सूक्तों के ऋषि कवि नहीं बने थे। हां रहस्यात्मकता की इस धुन्ध में कभी-कभी सचमुच एक गम्भीर अनुभव, एक उच्च दार्शनिक विचार चमक उठता है[23]।

वेदोत्तर साहित्य में उपनिषद् अधिक स्पष्टता और गम्भीरता से आत्मा क्या है,

---

22. अर्थव 10/2/31

23. प्रा.भा.सा.(विन्ट.), पृ. 122

इसे कैसे प्राप्त करें आदि प्रश्नों को सुलझाने का प्रयत्न करती है। इस कार्य में न केवल ऋषि ही सम्पृक्त दिखाई देते हैं। अपितु राजा और ऋषियों के शिष्य, उनकी पत्नियां भी सम्पृक्त है। सृष्टि के मूल तत्व तथा देवताओं की विविधता में एकता स्थापित करने की जो जिज्ञासा और आकांक्षा वेदों में अपने प्रारम्भिक रूप में थी, वह उपनिषदों में अधिक प्रकट होकर सामने आयी और उसके समाधान के लिये किए गए प्रयत्नों में अधिकाधिक चिन्तन और विकासात्मक भाव का समावेश हुआ।

आत्मवान कौन है और आत्मा का स्वरूप क्या है इस पर एक वार्ता वृहदारण्यक से इस भांति उद्धृत की जा सकती है जिसमें जनक ने अपनी गायें दान देते समस कहा है कि जो आत्मविद् हो वह इन गायों को ले जाए। याज्ञवल्क्य द्वारा गाएं ले लिए जाने पर उनसे विविध प्रश्न पूंछे जाने लगे और आत्मा का क्या स्वरूप है, इसे जानने का प्रयत्न किया गया। सभी प्रकार के प्रश्नों के सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य द्वारा आत्मा के स्थापन के लिए जो पद्धति अपनाई गई वह इस सन्दर्भ में मूल्यवान है कि याज्ञवल्क्य को आत्मा का रूप होता, प्राण, वाक्, घ्राण, रस, तथा अग्नि और वायु में दिखाई दिया। किन्तु बाद में उपस्त के प्रश्न का उत्तर देते समय वे यही कह सके कि दृष्टि को श्रुति के श्रोता को, पति के मन्ता को, विज्ञाप्ति को जानना सम्भव नहीं है। यह आत्मा सर्वान्तर है-एष त आत्मा सर्वान्तारोऽतोऽन्यदातं ततो होषस्तश्चक्रायण उपराम।[25]

जैसा कि उपरिलिखित आत्मा के अन्वेषण में होता, प्राण, वाक् आदि में आत्मा का निषेध का सर्वान्तर आत्मा की प्राप्ति को उल्लेख है, उसी तरह इसी

24. बृ0 2/4/5

25. बृ0 3/4/2

उपनिषद् में अन्न और प्राण में भी आत्मा रूप की कल्पना है। यहाँ कहा गया है कि यदि कोई कहता है कि अन्न आत्मा है तो वह ठीक नहीं है क्योंकि अन्न प्राण के बिना नष्ट हो जाता है और अन्न के बिना प्राण भी नहीं रहता। ये दोनों एकीभूत होने पर उनमें ब्रहम का निषेध है जबकि इनके संयुक्त होने पर इनमें परम तत्व की कल्पना है[26]।

छान्दोग्य की भी इसी तरह आत्मान्वेषण पद्धति है और जहाँ-जहाँ वह आत्मा देखता है वहीं अपनी शंका उपस्थित कर आगे अन्य तत्वों में आत्मा की खोज में लग जाता है। एक स्थान पर आत्मा का चार तत्वों में अलग-अलग रूप है। जल, दिशा, नक्षत्र, और चन्दमा। इनमें से चन्द्रमा में जो प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, उपनिषद् कार को वहीं ब्रहम प्रतीत होता है [26] और वही उसी के ज्ञान का उपदेश देने लगता है किन्तु फिर उसमें आत्मा का निषेध कर यह कह दिया जाता है कि यह जो नेत्रों में पुरूष-प्रतिबिम्ब है, वही आत्मा है। "य एषो क्षिणि पुरूषे दृश्यत एषा आत्मेति।[27]"

इस सन्दर्भो में अपने उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उपनिषद्कार विचार तो करते ही है, जिसके अनुसार उन्हें आत्मतत्व का अन्वेषण अभिष्ट है, किन्तु इसी क्रम में यह भी दिखाई देने लगता है कि वे उस तत्व का निषेध करते जाते है जिसमें पहले आत्मज्ञान हुआ था। उदाहरण के लिए पहले उन्हें वाक्, प्राण, घ्राण आदि में आत्मानुभव हुआ किन्तु बाद में इसका निषेध कर उन्हें सर्वान्तरात्मा की कल्पना हुई। इसी भांति जब वे चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब में और नेत्रों में पड़े हुए प्रतिबिम्ब को आत्मा कहते हैं तो यही ज्ञात होता है कि यह उस समय की मान्यता का रूप हो सकता

---

26. बृ0 5/12/1

27. वही 4/15/1

है जो आत्मान्वेषण की आधारशिला थी। इस परिपेक्ष्य में कहना भी संगत होगा कि प्राण, अन्न, वाक्, घ्राण आदि जो अपरिवर्तित और सद्रूप नहीं हो सकते, उनमें आत्मा की कल्पना कर और उसका निषेध कर यद्यपि उपनिषद् एक सत्, व्यापक आत्मा की स्थापना कर सके है, तथापि भौतिक तत्वों में आत्मा की कल्पना ने ही सम्भवतः भावी बौद्ध दर्शन के अनात्मवादी विचारधारा के बीज बोए थे। अपनी इस धारण के समर्थन में मोनियर विलियम का यह मत उद्घृत करना उपयुक्त होगा जिसमें बे बुद्ध को सभी भारतीयों की तरह तत्व मीमांसक मानते है और यह कहते है कि बुद्ध को उपनिषद् दर्शन के साथ गहरी सहानुभूति थी[28]।

वृहदारण्यकोपनिषद् में गार्ग्यबालाकि अजातशत्रु से बल पूर्वक यह कहता है कि मै तुम्हें ब्रह्म का साक्षात्कार करा सकता हूँ। यह कहकर है वह अपनी बात प्रारम्भ करता है और कहता है कि सभी प्राणियों का मूर्धा राजा होता है और इसमें व्याप्त पुरूष तत्व ही ब्रहम है-''सवेषां भूतानां मूर्धा राजेति वा अहमेतमुपास इति स एतमेव मुपास्तेऽतिष्ठाः सवेषां भूतानां मूर्धा राजा भवति[29]। इतना ही नहीं वह सूर्य चन्द्र, विघुत, आकाशादि में भी ब्रहम की स्थापना करता है[30]। किन्तु अन्त में उपनिषद् इन ब्रहम का निषेध कर जिस आत्म तत्व का निरूपण करता है उसे वह सत्य का सत्य कहता हैं। वहां यह कहा गया है कि आत्मा से प्राण, लोक, देव, भूत आदि है, किन्तु इनका प्राण सत्य का भी सत्य है[31]। और इस तरह यद्यपि परम सत्य का निरूपण उपनिषद् ने किया किन्तु सत्य के ही दो रूपों को स्वीकार करके।

छान्दोग्योपनिषद् में इन्द्र और विरोचन को शिक्षा देते समय प्रजापति द्वारा कहे गये वाक्य, जिनमें नेत्रों में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब को ही आत्मा कहा गया है, एक

---

28. बुद्धिज्म (विलि.) पृ. 104, 106

29. बृह0 2/1/2

30. वही, 2/1/9

31. वही, 2/1/20

विशेष दृष्टि की अपेक्षा रखते है। प्रजापति ने स्पष्ट रूप से विरोचन से कहा कि "य एषोऽक्षिणिपुरूषोऽदृश्यत एष आत्मेति।" पुनः शंका करने पर उन्होंने जलपूर्ण पात्र में विरोचन और इन्द्र के प्रतिबिम्ब को दिखाकर उसे आत्मा कहा[32] और उपनिषद् काल में किसी न किसी रूप में अंकुरित उस विचारधारा का आभास दिया जो आत्मा की विभुता और व्यापकता के विरूद्ध थी।

ऐतरेयोपनिषद् में जब यह प्रश्न किया गया कि वह कौन आत्मा है जिससे देखता है, सुनता है, सूंघता है, वाणी व्यवहार करता है। तो उत्तर में यह कहा गया कि ज्ञान, विज्ञान, मेघा, दृष्टि, देव, महाविभूत, अण्डज, उद्भिज, स्वेदजाति प्रजा में प्रतिष्ठित ब्रहम है। इसी प्रजा से आत्मा अमर होता है, क्योंकि पूर्व ऋषि ऐसे ही अमर हुए है[33]। इसमें आत्मा की अमरता में प्रज्ञा कारण है और प्रज्ञा वह ज्ञान है जिससे सम्पूर्ण ब्रहमाण्ड को ब्रहममय जाना जाता है। तब इस सिद्धान्त में भी प्राण और आत्मा की पृथकता और उनकी द्वैधता संकेतित है।

कठोपनिषद् में नचिकेता भी वही प्रश्न करता है कि मृत्यु के बाद क्या मनुष्य का कोई अस्तित्व शेष रहा जाता है। क्योंकि कुछ लोग जो शरीरादि के अतिरिक्त किसी तत्व की कल्पना करते है वे कहते है कि मृत्यु के बाद मनुष्य का अस्तित्व शेष रहता है। किन्तु जो शरीरादि के अतिरिक्त किसी तत्व की कल्पना नहीं करते वे कहते है कि मृत्यु के बाद कुछ भी अस्तित्व शेष नहीं रहता[34]।

जहाँ स्पष्टतः के साथ मृत्यु के पश्चात कुछ भी शेष न रहने की धारणा को

---

32. छान्दो/8/8/4
33. ऐ. (ई.द.उ.) पृ. 31-35
34. क. (इ.द.उ.) पृ.-42

स्वीकार किया है वहीं विद्या और अविद्या की चर्चा करते हुए उपनिषदकार ने यह कहा है कि अविद्या मृत्यु है और विद्या अमृत है। अमृतत्व, जो आत्म-लक्षण उपनिषदों की दृष्टि में है, मृत्यु के पश्चात् ही प्राप्तव्य है[35]।

सम्भूति और असम्भूति के प्रतिपादन में भी यद्यपि सम्भूति, जिसका अर्थ शंकराचार्य ने अपने भाष्य में समवनं सम्भूतिः किया है और 'तस्या अन्या असम्भूतिः' किया है, की उपासना को श्रेष्ठ कहा है। किन्तु सम्भूति के विपरीत विनाश के अपरिहार्य अस्तित्व की स्वीकृति है[36]।

इन सन्दर्भों की अपेक्षा प्रश्नोपनिषद अपने नाम के अनुरूप स्पष्ट रूप से प्रश्न करती है और उत्तर भी प्रस्तुत करती है। इस उपनिषद् में पुरूष कौन है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यह कहा गया है कि इसी शरीर के हृदय कमल में वह स्थित हैं और प्राणादि उसी के नाम रूप है। जैसे नदियां समुद्र में मिलकर अपना नाम रूप त्याग देती है वैसे ही प्रेतादि आत्मायें मिलकर अपने नाम रूप का त्याग कर देती है। जो वस्तुतः आत्मा के ही है[37]। यहाँ हृदय पुण्डरीक में अवस्थित आत्म की अवस्थिति और उसकों नामरूपात्मक कहना उपनिषद् के आत्मा प्रतिपादन के अनुरूप विचार होते हुए भी नाम-रूपात्मक आत्मा की कल्पना एक नवीन दृष्टि का संकेत हो सकती है।

वेद और प्रचीन उपनिषद् जो निश्चय है। भारतीय चिन्तन की प्राचीन झलक देते है, बौद्ध विचारों को किसी विशेष दृष्टि से नहीं प्रभावित करते, अपितु एक निषेधात्मक प्रवृत्ति की पूर्वपीठिका ही प्रस्तुत करते हैं। वेदों और उपनिषदों से लिए

---

35. ई. (इ.द.उ.) पृ. 7

36. वही पृ. 8

37. पृ. 415-422

गए सभी साक्ष्यों के आधार पर हम यहां देख सकते है कि पहले देवताओं ने उन्हें अपनी आस्था दृढ़ होती हुई दिखी किन्तु उनमें भी अस्तित्व की असत्ता का आभास उन्हें सत् और असत् के अन्वेषण के लिए प्रेरित करने लगा। जहाँ तक आत्मा के स्वरूप के निर्धारण की अवस्था का प्रश्न है तो वेदों में उसके लिये असु, प्राण, मन और शरीर तक का आधार खोजा गया और सबमें आत्मा के निषेध का भी व्यवहार होता गया।

उपनिषदों ने अपेक्षाकृत वेदों के उन्हीं संकेतात्मक प्रश्नों को जिनमें किसी तत्व के अन्वेषण की जिज्ञासा थी, एक स्पष्ट रूप दिया और उसके अन्वेषण का व्यापक आधार मिला। उपनिषदों में हम यह देखते है कि ऋषियों को कहीं नेत्रों में पड़े प्रतिबिम्ब में आत्मा दिखाई दी तो कहीं जल में पड़ते मनुष्य के प्रतिबिम्ब में। कहीं यह मत व्यक्त किया गया कि मृत्यु के बाद किसी तत्व का अस्तित्व नहीं रहता तो कहीं यह कह दिया गया कि आत्मा इसी शरीर में हृदय में निवास करती है।

इन स्थानों में आत्मा है यह निष्कर्ष प्रतिष्ठित भी नहीं होता कि वहीं ऋषि प्रथम आत्म स्थानीय तत्व को छोड़कर किसी दूसरे तत्व को आत्मा कह देते है। इसी तरह वह क्रमशः अधिक सत् व्यापक और अनन्त तत्व की ओर बढ़ता जाता है और पूर्व तत्वों में अनात्मता का साक्षात् करता जाता है। इससे आत्मा में निषेध की एक प्रवृत्ति पनपती जाती है। और बाद में यदि इस प्रवृत्ति ने ही बौद्ध धर्म को अनात्मवादी विचारधारा की स्थापना में आधार दिया हो तो इसे संगत ही मानना चाहिए क्योंकि कोई भी महापुरूष अपने युग की सभी विचारधाराओं से असम्पृक्त नहीं रह सकता।

वैदिक वाड्मय में आत्म पद के प्रयोग के विषय में विचार करने पर हम यह देख सकते है कि यह पद भी अपने स्पष्ट अर्थ का अवधारण उस समय नहीं कर सका था। तब आत्मा के लिए जीव, प्राण और मनस् शब्द प्रयुक्त होते थे। ऋग्वेद में "उदीर्ध्व जीवो असुर्न आगात्व" मन्त्र में जीव और असु शब्द का प्रयोग किया गया है। इसमें सायण ने जीव शब्द का अर्थ जीवात्मा और असु का अर्थ प्राण किया है।स्कन्द स्वामी अपने भाष्य में असु का अर्थ प्राण स्थानीय करते है[38]।

इसी भांति ऋग्वेद के ही एक अन्य मन्त्र में आत्मा के प्रयोग पर अपना अर्थ देते हुए स्कन्द स्वामी ने आत्मा को मन कहा है एवं एक अन्य स्थान पर प्राण शब्द के प्रयोग का अर्थ स्कन्ध स्वामी ने देह में वर्तमान पंचवृत्ति वायु से लिया है।

यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी आत्मा की कल्पना है और उसके लिये भिन्न-भिन्न रूप से वर्णन प्राप्त है। यर्जुवेद में एक स्थान पर यह कहा गया कि आत्महन्ता अन्धतम् से आच्छादित असूर्यो नामक लोक में जाते है। और दूसरे स्थान पर आत्मा में ही सर्वभूतों को देखने के लिए कहा गया है। अथर्ववेद में एक स्थान पर ईश्वर की महत्ता को स्थापित करते हुए यह कहा गया कि ईश्वर ने बड़े प्रयत्न से सृष्टि का निर्माण किया है। उसी की यह सृष्टि आत्मा में भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई देती है। जबकि आत्मा और असु, अथर्ववेद में पृथक-पृथक भी बताया गया। इसी के साथ इस वेद में आत्मा की व्यापकता बड़ाकर उसे विश्वात्मा का रूप दिया गया।

वेदों के ये सभी साक्ष्य भी इस तथ्य की ओर इंगित करते है कि वैदिक

---

38. ऋ. 1/113/16

39. यजु. पृ. 27

काल के ये सभी साक्ष्य भी इसी तत्य की और इंगित करते है कि वैदिक काल में आत्मा का कोई स्पष्ट रूप निर्धारण नहीं हो सका था। कभ प्राण को आत्मवत् तो कभी असु और मनस् को आत्मवत कह दिया जाता था। पश्चात्य विद्वानों ने इन्हीं प्रयोगों के आधार पर अपने भिन्न-भिन्न मत स्थापित किये है। दासगुप्त अपने अनुसार यह कहते है कि असृ और मनस् का प्रयोग आत्मा के अर्थ में हुआ है। और मनस् इन्द्रिय के रूप में स्वीकृत है जिसका निवास हृदय में है। कीथ का कहना है कि वेदों में आत्मा का कथन वस्तु के मूल स्वभाव के अर्थ में है। मैक्डानल ऋग्वेद में हुए आत्म प्रयोग को वायु के पर्याय के रूप में मानते है, और यह भी कहते है कि वेदों के अनुसार जीवन असु तथा मनस् के सातत्य पर निर्भर है।

(ख) त्रिपिटक ग्रन्थों में अनात्मता :-

प्रथम अध्याय में इस तथ्य की ओर संकेत किया गया है कि भगवान बुद्ध के समय जहाँ एक ओर उपनिषदों की यह विचारधारा प्रतिष्ठित थी कि आत्मा सूक्ष्म से सूक्ष्म है और पृथ्वी एंव आकाश से भी बड़ी है तथा उसका आकार इस लोक से भी बड़ा है[1]। यह आत्मा शाश्वत है और लोक भी शाश्वत है तथा जीव अन्य है, शरीर अन्य है[2]। वहीं दूसरी ओर यह भी विचार करने वाले वर्तमान थे जो यह कहते थे कि "अयं अन्ता रूपी चातुमहाभूतिको मातावेत्तिकसम्भवो कायस्य भेदा उच्छिज्जति विनस्सति न होति परंमरणा"- यह आत्मा जो चतुर्महाभूतिक है, जिसकी उत्पत्ति माता-पिता से सम्भव है, मृत्यु के बाद नहीं रहती[3]।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न मत मतान्तरों के होते हुए भी भगवान् बुद्ध के समक्ष मुख्यतः दो विचारधाराएँ अधिक मुखरित थी। एक विचारधारा के विचारक आत्म तत्व की कल्पना कर उसे नित्य, कूटस्थ और व्यापक तत्व के रूप में स्वीकार करते थे और उसे शरीर तथा लोक से भिन्न मानते थे। दूसरी विचारधारा के विचारक शरीर को ही आत्मा कहते थो और इसके अतिरिक्त किसी अन्य आत्मादि की कल्पना में विश्वास नहीं करते थे। कुछ विचारक "यह भी सत्य है, वह भी सत्य है, यह भी सत्य नहीं है, वह भी सत्य नहीं है"- कहते थे[4]।

भग्वान इसलिए अपूर्व उपदेष्टा कहे जा सकते है, क्योंकि इन्होंने इस प्रकार

---

1. क.1/2/20
2. दी.नि.1 (क.), पृ. 13, खु. नि. 1 (क.), पृ. 142-143
3. खु. नि. 1 (क.), पृ. 142
4. सं. नि. (क.), पृ. 65-66

की दोनों दृष्टियों को निषिद्ध मानकर मध्यम मार्ग का आश्रय लेकर अपना दृष्टिकोण उपस्थित किया। वे न तो इसे स्वीकार कर सके कि आत्मा नित्य, कूटस्थ और चिन्मय हैं और न इसे स्वीकार कर सके कि शरीर ही आत्मा हैं और इसके नष्ट होते ही सब कुछ नष्ट हो जाता हैं। त्रिपिटक में बुद्ध के समक्ष जिस प्रकार के प्रश्न किए गए हैं और अपने विचार के आधार पर जैसा उन्होने उनका समाधान किया हैं, उससे यह ज्ञात होता हैं कि उनके सामने आत्मा-शरीर का प्रश्न नहीं था। वे उन प्रश्नों को संसाधित करने में प्रयत्नशील थे जिनमें यह पुँछा जाता था कि जीव यही है शरीर यही हैं। अथवा जीव अन्य है। और शरीर अन्य हैं। इस दृष्टिकोण से बुद्ध ने मूलस्य से जीवन ही समस्या को ध्यान में रखकर मनुष्य के अस्तित्व के प्रश्न को दृष्टिगत रखकर ही दोनों तरह की अतिवादी विचारधाराओं से पृथक होकर कहा था कि 'एते, ते ब्राह्मण, उमो अन्ते अनुपगम्म मज्झेन तथागतो धम्मं देसेति।'

सर्वप्रथम भगवान् बुद्ध के श्रावस्ती में पोट्टपाद के साथ हुए उस वार्तालाप का संकेत करना उपयुक्त होगा जिसमें भगवान् बुद्ध से पोट्टपाद ने यह प्रश्न किया 'कि भन्ते, खज्जा पुरिसस्स अन्ताति वा अज्जा वा सज्जा अज्जो अन्ता तिवा' भन्ते, जीव वही है, शरीर वही है, अथवा जीव दूसरा है, शरीर दूसरा हैं[5]। इसी तरह जब भगवान् बुद्ध अपने साथ में पाँच सौ भिक्षुओ को लिए हुए सेतव्या नामक नगर में थे तो वहाँ कौशल नरेश प्रसेनजित् द्वारा नियोजित पायासी राजा ने भगवान् के सामने उपस्थित होकर कहा था कि "इति पि नत्थि परो लोको, नत्थि सत्ता ओपपातिका, नत्थि सुक्त दुक्करानं कम्मानं फलं विपाको" ति। न यह लोक है और न परलोक हैं। वापस आने वाला यह मर्त्य सत्व नहीं हैं। सुकृत और दुष्कृत फलों का कर्म - विपाक भी नहीं होता।

---

5. दी. नि. 1(क.),पृ. 136

अपने इस विश्वास के प्रतिपादन के लिए उसने भगवान् से कहा कि मैंने बहुत से पुरूषों को बंधे हुए मुख वाले हण्डों में पकाकर देखा है, पर उनके मरने पर कभी भी जीव को शरीर से निकलते नहीं देखा। अतएव मन्ते जीव है हि नहीं, यही मानता हूँ[6]।

जिज्ञासा मनुष्य का मूल स्वभाव है। इसलिए यदि उपनिषदों के परिपेक्ष्य में इसी जिज्ञासा के वशीभूत होकर किए गए प्रश्नों का अवलोकन किया जाए तो वहाँ आत्मा और आत्मा के अतिरिक्त सम्पूर्ण जगत् का जो नियन्ता हो–उसके जानने की इच्छा व्यक्त की जाती थी। वहाँ का जिज्ञासु यह पूँछता था कि वह कौन सा मूल है जिससे जीवन वृक्ष बार–बार काटे जाने पर भी नवीन आकार ग्रहण करता रहता है[7]। मैत्रेयी द्वारा बार–बार अमरता के सम्बन्ध में प्रश्न किए जाने पर याज्ञवल्क्य ने आत्मा वा अरे दृष्टवा श्रोतव्यः" कहकर आत्मा को जानने का उद्बोध किया था[8]। जबकि आरूणि ने याज्ञवल्क्य से यह जानना चाहा था कि वह कौन सा सूत्र है, जिससे लोक–परलोक बंधे है। इसका सूत्रधार कौन है, किसके जानने पर अशेष ज्ञात होता है[9]।

इन साक्ष्यों से उपनिषद् दो प्रकार की अपनी जिज्ञासा की शान्ति के लिए प्रयत्नशील जान पड़ते है। एक तो उपनिषद् के विचारक इस शरीर के अतिरिक्त आत्मा क्या है, उसका रूप क्या है, यह जानना चाहते है, दूसरे वे यह भी जानना चाहते है कि इन समग्र सृष्टि का नियन्ता कौन है, यह सृष्टि संचालित कैसे होती है?

---

6. दी. नि. 1(क.) पृ. 236
7. बृ. 3/9/32
8. वही 3/7
9. मुण्ड. (उ.स.) 1/1/3

एतदर्थ बृद्ध कहते है कि "इदं दुक्खं तिखो, पोट्टपाद, मया व्याकतं, अयं दुक्ख समुदयोति खो, पोट्टपाद, मया व्याकतं, अयं दुक्खनिरोधी ति खो, पोट्टपाद मया व्याकातं, अयं दुक्खनिरोधगामिनी पटिपाद ति खो, पोट्टपाद, मया व्याकतं "ति" पोट्टपाद वह दुक्ख समुदय है, अतः मै इसका व्याख्यान करता हूँ, यह दुक्ख निरोध हैं, यह दुक्ख निरोधगामिनी प्रतिपदा है अतः मै इसका व्याख्यान करता हूँ [10]।

इस प्रकार आत्मा या जीव का मरणोत्तर काल में अस्तित्व है या नहीं-इस प्रकार के प्रश्नों का निरर्थकता बताकर यह सिद्ध करने का उद्घोष करते है कि दुःख ही यह सत्य है जिस पर यह जीव और आत्मा का अस्तित्व आधारित है।

त्रिपिटक में जहाँ भी भगवान बुद्ध के अनात्म स्थापन सम्बन्धी विचार प्राप्त है वहां भगवान् ने दो स्थितियों में व्याख्यान किया है। प्रत्यशः यह हुआ कि बुद्ध को विचरण करते समय किसी न किसी से कुछ ऐसे विचार ज्ञात हुए जो सम्यक् ज्ञान के विरोधी विचार थे। अथवा अपने विरोधी विचारों को ही किसी ने प्रश्नों के रूप में भगवान् के समक्ष उपस्थित किया और बुद्ध ने उसी से प्रति प्रश्न का तत्व-निष्कर्ष प्रस्तुत किया। कभी स्वयम् भगवान बुद्ध शिष्यों का आहवान कर धर्म का उपदेश करते हुए तत्व निष्कर्ष प्रस्तुत करते है। कहीं-कहीं भगवान् के शिष्यों के वार्तालाप में अथवा उनके द्वारा प्रति प्रश्नात्मक शैली में किए गए उपदेशों में भी तत्व चिन्तन एवं सह चिन्तन की झलक अनात्मता के प्रतिपादन में सहायक होती है।

मल्झिम निकाय में अनेक ऐसे स्थल हैं, जहाँ भगवान् बुद्ध अथवा उनके धर्मानुगामियों के कथनों प्रतिकथनों में आत्म-सम्बन्धी जिज्ञासायें और उनके समाधान दिखाई देते है।

---

10. दी. नि. 1(क.), पृ. 157

श्रावस्ती जेतवन बिहार में विहार करते समय अरिष्ट के मन में एक बार यह विचार उत्पन्न हुआ कि निर्वाण के लिए अन्तरायिक विध्न सेवन करने पर अन्तराय नहीं उत्पन्न करते हैं- "तथाहं भगवता धम्मं देसितं आजानामि यथा येमें अन्तरायिका धम्मा वुत्त भगवता ते पटिसेवतो नायं अन्तरायायाति"[11]। उसे ऐसा अनुभव हुआ कि भगवान बुद्ध का यही उपदेश हैं। वैशाली में भगवान बृद्ध के बिहार करते समय निगण्ठ पुत्र के मन में यह विचार आया कि "नाहंतं पस्सामि समणं व ब्राहमणं वा.... यो मया वादेन वादं समारद्धो ने सकंम्पेय.......[12] कोई ऐसा श्रवण ब्राहमण नहीं है जो मुझे वाद कर सके। उसने बुद्ध के विचारों को सुनकर कहा कि गौतम! यह पुरूष पुद्गल रूप के कारण रूप में प्रतिष्ठित हो पुण्य अपुण्य को उत्पन्न करता है। इसी तरह वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के साथ भी होता है। अत: मन्ते, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान मेरी आत्मा है।

भगवान बुद्ध के सामने एक प्रश्न तब उपस्थित हुआ जब वे श्रावस्ती में भृगारमाता के प्रासाद में पूर्वाराम में पूर्णिमा की रात में भिक्षुओं से आवृत बैठे हुए थे। उन्हीं भिक्षु समूह से एक भिक्षु ने यह प्रश्न किया कि भन्ते! रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ही उपादान स्कन्ध है। आगे उस भिक्षु ने पूंछा कि इमे पन, भन्ते, पञ्चुन्पादनक्खन्धा किंमूलका''ति। ये पञ्चुपादानस्कन्ध किं मूलक है[13]। नन्दकोवाद सुन्तन्त में जब नन्दक भगवान् बुद्ध की आज्ञा पाकर पांच सौ भिक्षुणियों को उपदेश देते है तो स्वय: प्रश्न करते जाते है और तब उनका उत्तर देते है। बौद्ध विचारों की यथार्थता के लिए अनभिज्ञ व्यक्ति जैसे प्रश्न करता है उसी तरह नन्दक भिक्षुओं से पूछते है कि चक्षु, रूप, शब्द, गन्ध, रस आदि नित्य है या अनित्य! और जो अनित्य

---

11. म. नि. 1(क.), पृ 174
12. म. नि. 1(क.), पृ. 280
13. म. नि. 3(क.), पृ. 77

है, वे क्या आत्म-कल्प हो सकते है। जो अनित्य है, वह दु:ख है अथवा सुख[14]! और ठीक उसी प्रकार के प्रश्न कर भगवान ने राहुल को भी अन्थवन में उपदेश दिया था[15]।

जैसे कि पहले संकेत किया जा चुका है उसी के अनुरूप भगवान बुद्ध ने इस सम्पूर्ण जगत् को दुक्खरूप बताकर यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया कि यहाँ दु:ख ही परम सत्य हैं क्योंकि जाति दु:ख है, जरा दु:ख है, मृत्यु भी दु:ख है, शोक, परिदेव, दुक्ख दौर्मनस्य आदि दु:ख ही है। प्रिय से वियोग दु:ख है, अप्रिय से संयोग दु:ख है। जो इच्छा करता है उसकी अप्राप्ति दुक्ख हैं-इस प्रकार संक्षेप में पन्य उपादान स्कन्ध दु:ख है। इस प्रकार से जब भगवान् बुद्ध ने सभी कुछ दुक्खात्मक अनुभव किया तो उन्होंर्ने रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान उपादान के रूप में पंच स्कन्धों को कल्पित कर इन्हें दु:ख संज्ञक कहा। सम्पूर्ण जगत् के उपादान यही हैं और इन्हीं पर आधारित यह जगत्-प्रतीति हैं।

इन स्कन्धों के सम्बन्ध में राहुल जी ने अपने मज्झिम निकाय की पद टिप्पणी में यह लिखा हैं कि चराचर जगत् का उपादान कारण रूप आदि पाँच स्कन्धों में बँटा हैं। इनमें से वेदना, संज्ञा, संस्कार विज्ञान की ही अवस्था विशेष होने से इन्हें रूप और विज्ञान दो स्कन्धों में विभक्त किया जा सकता हैं। विज्ञान को नाम भी कहते हैं। ये पाँच स्कन्ध जब व्यक्ति में लिप्त हो जाते हैं, तो इन्हें उपादान स्कन्ध कहते हैं। त्रिपिटक में वेदना, संज्ञा, चेतना, स्पर्श, मनसिकार को नाम कहा गया हैं। चार महाभूत और उनके उपादान ही रूप हैं। धम्मपद में बुद्ध ने नाम रूप में बुद्दि न

---

14. म. नि. (रा.) , पृ. 591-592
15. म. नि. 3(क.), पृ. 376-377

रखने वाले तथा असतता के विषय में न शोक करने वाले को भिक्षु कहा हैं। तब मैंकसमूलर यहाँ किए गए नाम और रूप के प्रयोग को शरीर ओर माइण्ड का समानार्थी मानते हैं, जिसमें आत्मा नहीं है। यहाँ असत् शब्द का तात्पर्य भी उनकी दृष्टि से नाम रूप अथवा जो अनस्तित्व शील है, हो सकता है[16]।

इसीलिए अरिष्ट भिक्षु की दृष्टि का निषेध करते हुए भगवान् ने भिक्षुओं से यह कहा कि आर्य ज्ञान से वंचित पुरूष ही रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान को मै यह हूँ, "यह मेरा है," "यह मेरी आत्मा है, -इस प्रकार समझता है। मै मृत्यु के बाद फिर होऊँगा। ध्रुव, शाश्वत तथा अविकारी होकर रहूँगा - यह जानता हूँ। किन्तु जो आर्य श्रावक और आर्यदर्शन युक्त हैं, वे ऐसा नहीं समझते। वे यह समझते हैं कि "रूपं, नेतं मम, नेसीहमस्मि न येसो अनतोऽति समनुपस्सति······।यह रूप वेदनादि स्कन्ध न मेरे हैं और न मै यह हूँ ऐसे जानता है[17]। मैं रूप हूँ, रूप मेरा है, मरकर मैं फिर होऊँगा आदि दृष्टियों को जिनसे आत्म-प्रज्ञप्ति होती हैं, भगवान् बुद्ध बाल धर्म मानते हैं। वे भिक्षुओं से ही पूछते है- क्या भिक्षुओं रूप नित्य हैं क्या भिक्षुओं वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान नित्य हैं। भिक्षुओं के अस्वीकार किये जाने पर भगवान् कहते हैं कि इस तरह यह नित्य नहीं है, यह दुःख है, विपरिणाम धर्मा हैं। इसी तरह इसमें आत्मा देखना योग्य नहीं है। -- "यं पनानिच्चं दुक्खं विपरिणाम धम्मं, कल्लं नु तं समनुपस्सितुं-एतं मम, एसोहमस्मि, एसो में अन्ता"ति। नो हेतु, भन्ते"[18]।

इस तरह उपनिष्दों में विचारित और अन्वेषित आत्मा के सत् तथा व्यापक रूप को जिसमें आत्मा को विश्व के कण-कण में व्याप्त कहा गया है[19], भगवान् बुद्ध

---

16. डी. पी. (एस. बी. ई. एक्स), पृ. 86
17. म. नि. 1(क.), पृ. 181
18. वही, पृ. 184
19. बृ. 1/4/7, खे. 2/17

स्वीकार नहीं करते हैं। निगण्ठयुत्त के प्रश्नों का उत्तर देते हुए और रूपादि स्कन्धों की अनित्यता व्याख्यायित करते हुए भगवान् ने कहा है कि भूत, भविष्य, वर्तमान, बाहर, भीतर, स्थूल, सूक्ष्म हीन,उत्तम जो भी रूप हैं, वेदनादि है वह मैं नहीं हूँ, मेरा नहीं है। और आत्मा भी नहीं हैं। इस प्रकार यहाँ भगवान् के वचन औपनिषद् काल में प्रचारित सर्व व्यापक और विभु आत्मा के खण्डन में है तथा त्रिकाल में किसी भी प्रकार के आत्मा के अस्तित्व का खण्डन करते हैं और यह सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं कि रूपादि स्कन्धों में ही आत्म व्यवहार होता हैं। वस्तुतः इन स्कन्धों से इतर अन्य कोई तत्व आत्मा नहीं है[20]।

भगवान बुद्ध के इस विचार को उनके अनुगत भली-भांति अनुभव करते थे और समय-समय पर अपने अन्य उपासकों को भी उपदेश करते थे। नन्दक ने प्रजापति गौतमी आदि पांच सौ भिक्षुणियों को उपदेश देते हुए भी यही कहा था कि जैसे जलते हुए दीपक का तेल भी अनित्य हैं, रूई भी अनित्य है, लौ भी अनित्य है और उसकी आभा भी अनित्य हैं, उसी तरह पंच स्कन्ध जब अनित्य हैं तो उनमें किसी अन्य नित्य और सार्वकालिक रूप की कल्पना व्यर्थ हैं। नन्दक ने वहाँ विस्तार पूर्वक चक्षु, श्रोत आदि इन्द्रियों और व्यवहार से विषय प्रज्ञप्ति में रूप, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य तथा धर्म की अनित्यता को सिद्ध किया है तथा यही निष्कर्ष उपस्थित किया हैं कि जो अनित्य हैं वह दुःख है और जो दुःख है वह आत्मा नहीं हैं केवल आत्म प्रतीत है[21]।

भगवान बुद्ध ने राहुल तथा अन्य भिक्षुओं को विस्तार पूर्वक इन्द्रियों, विषयों

---

20. म.नि. (रा.), पृ. 179

21. म.नि. 3(क.), प. 362-386

तथा विज्ञान का विपरिणाम धर्मिता और उनके अनित्य स्वरूप में आत्म-दृष्टि को मिथ्या दृष्टि कहा है। जो अनित्य हैं वह दु:ख है जो दु:ख है उसे समझना कि यह मेरा है, यह मै हूँ, यह मेरी आत्मा हैं, ठीक नहीं है-" यं पनानिच्वं दुक्खं विपरिणामधम्मं, कल्लं नु तं समनुपस्तितुं" एतं मम, एसोहमस्मि एसो में अ्त्रा! नो हेतं भन्ते"। अत: जो आर्य श्रावक भिक्षु है वह चक्षु, चक्षु, विज्ञान, श्रोत, श्रोत विज्ञान में निर्वेद को प्राप्त हो यह समझता हैं कि यहाँ करने को कुछ नहीं है, इस हेतु उसे ज्ञान होता है कि "खीणा जाति, वुसितं ब्रहमचरिंम, कतं करणीयं, नापरं इत्थन्ताया" "ति पजानाती"ति[22]।

इस क्रम में दिये गये साक्ष्यों और सन्दर्भो में जहाँ भगवान बुद्ध ने जीव, आत्मा, सत्व आदि नित्य है या अनित्य हैं-जैसे प्रश्नों का सीधा समाधान न कर सम्पूर्ण जगत् को दु:ख सत्य में प्रतीति बताकर एक विशेष विचार पद्धति की ओर संकेत किया, वहीं उन्होने पंच स्कन्ध के रूप में समस्त सृष्टि जगत् की परिकल्पना कर उसके पर्यालोचन में और सत्य दृष्टि के अन्वेषण में ध्यान देने का आहवान किया।

यह सम्पर्ण जगत् जो वस्तुत: सत्तात्मक नहीं है और जो नितान्त रूप से अनित्य है दु:ख के आधार पर ही खड़ा हैं। पंच स्कन्ध भी इसी हेतु से दु:ख है। क्योंकि इनमें नित्यतां और अविकारिता का नितान्त अभाव है। मैक्समूलर का यह कहना है कि सम्भवत: भगवान बुद्ध की यही प्रथम अनुभूति थी कि सभी कुछ दु:खात्मक हैं[23]। पंच स्कन्धों का हेतु बताते हुए भगवान् ने यह भी कहा कि तृष्णा, नन्दि (राग) ही उनका हेतु हैं। यदि इस तृष्णा या राग का प्रहाण कर दिया जाय तो

---

22. म.नि. 3(क.), पृ. 388
23. डी.पी. (एस.बी.ई.एक्स.), पृ. 37

पंच स्कन्ध स्वतः निरूद्ध हो जायेगें। इन्द्रियां, उनके विषय और विज्ञान भी नित्य और सुख रूप न होने से दुःखात्मक है अतः इनमें भी शाश्वतता और नित्यता परिकल्पित नहीं हो सकती है। अतएवं पंच स्कन्ध की समन्विति में ही सत्काय दृष्टि उत्पन्न होती है जो आर्य दृष्टि नहीं है। इस प्रकार भगवान बुद्ध ने अत्याकृत प्रश्नों का निषेध करते हुए एक क्रम से दुःख सत्य की सिद्धि और पंच स्कन्धों में आत्मा का निषेध किया, जो आत्मा शाश्वत सर्वज्ञ और त्रिकाल व्यापी हो।

सुत्तपिटक के संयुक्त निकाय और विनय पिटक के महावग्ग में भगवान् पंच वर्गीय भिक्षुओं का अनत्रा का उपदेश देते हुए कहा था कि भिक्षुओं, रूप अनात्म है, वेदनादि अनात्म हैं क्योंकि मेरा ऐसा रूप हो, मेरी ऐसी वेदना हो, मेरी ऐसी संज्ञा हो, संस्कार और विज्ञान मेरे ऐसे हों। मेरे रूप वेदनादि ऐसे थे- ऐसा कुछ निश्चित नहीं है। ऐसा कुछ उपलब्ध भी नहीं हैं। ऐसी इच्छा होने पर रूप वेदनादि प्राप्त भी नहीं होते। यह तर्क देकर ही बुद्ध ने भिक्षुओं को तब यह उपदेशित किया था कि जो भी रूपादि अतीत, अनागत, वर्तमान में है, बाहर भीतर, दुःखात्मक या सुखात्मक हैं, वह सब मेरे नहीं हैं, मै उसका नहीं हूँ, यह मेरी आत्मा नहीं है। राध नामक उपासक ने भगवान् से यही प्रश्न किया था कि "कतमं नु खो, भन्ते, दुक्खं'ति" "कतभो नु खो भन्ते अनत्वधम्मों" ति, कतयो नुखो, भन्ते, खय धम्मो' ति" कतभे खो नु समुदयधम्मो "ति" कतयते नु खो भन्ते, निरोधधम्मो ति"[24]

राध के इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान बुद्ध ने यही कहा था कि राध!

---

24. सं. नि. (क), पृ. 408-410

रूपादि पंच स्कन्ध ही दु:ख है! इनकी वस्तु सत् के रूप में कोई सत्ता नहीं हैं, मिथ्या दृष्टि से समन्वित हो आत्मवादियों को इन्हीं स्कन्धें में जीव या आत्मा का आभास होता हैं। और वे इसे नित्य कूटस्थ तथा ध्रुव कहने लगते हैं। पंच स्कन्धों के अतिरिक्त आत्मा नहीं है, क्योंकि क्षयधर्मी और दु:ख धर्मी है। आत्मा की प्रज्ञप्ति इनमें होना दृष्टि विभ्रम मात्र हैं[25]।

समस्त जगत्, जो अशश्वत और क्षणिक हैं, यथार्थत: जिसकी सिद्धि हीं नहीं की जा सकती हैं, और पंच स्कन्ध के रूप में ही प्रतीत होता है, किस आधार पर खड़ा हैं और इसकी उत्पत्ति का कारण क्या हैं। भगवान बुद्ध ने जब बुद्धत्व प्राप्त किया था तो वे एक सप्ताह तक एकासन में स्थित होकर विमुक्ति सुख का लाभ प्राप्त करते रहे थे। फिर उस समाधि से उठने के पश्चात् ही उन्हें प्रथम रात्रि में इस सम्पूर्ण जगत् के मूलभूत कारण कार्य व्यवहार की प्रतीति इस प्रकार हुई थी ''इति इमस्मिं सति इदं होति, इमस्सुप्पादा इदं उप्पज्जति'', इसके होने पर यह होता हैं इसके उत्पन्न होने पर यह उत्पन्न होता है[26]। इस विचार को भगवान् ने प्रतीत्यसमुत्पाद का नाम दिया हैं।

बुद्ध को ज्ञान प्राप्ति की प्रथम रात्रि में इस प्रकार के विचार में यह ज्ञान हुआ कि अविद्या ही वह प्रत्यय है, हेतु हैं जिससे सम्पूर्ण जगत् का स्वरूप खड़ा है। यही पंच स्कन्ध में भी अविद्यादि प्रत्ययों पर आधारित हैं। अविद्या प्रत्यय से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान प्रत्यय से नाम रूप, नाम रूप से सदायतन, सदायतन प्रत्यय से स्पर्श, स्पर्श प्रत्यय से वेदना, वेदना प्रत्यय से तृष्णा, तृष्णा प्रत्यय से उपादान,

---

25. स. नि. 2 (क), पृ. 408-410
26. सु. नि. 1 (क), पृ. 63

उपादान प्रत्यय से भव, भव प्रत्यय से जाति, जाति प्रत्यय से जरामरण, शोक, दुःख दौर्भस्सादि उत्पन्न होते है। और इस तरह से दुःख का समुदाय उत्पन्न होता है[27]। पंच स्कन्ध और कुछ नहीं, इसी अविधा के आधार पर आधारित हैं और दुःख स्वरूप तथा विपरिणाम धर्मी-है।

अविधा प्रत्यय, जिसके आधार पर यह जगत् प्रतीत होता हैं, क्या हैं, इसका क्या स्वरूप हैं- यह प्रश्न भी भगवान् बुद्ध के सामने कोटिक ने उपस्थित किया था। तब उसका समाधान करते हुए बुद्ध द्वारा यह उत्तर दिया गया था कि अश्रुततया बालजन, रूप का समुदय, रूप की अर्थङ्ग मता, उत्पत्ति, स्थिति ओर विनश्यता यथाभूत रीति से नहीं जानते है। वेदना संज्ञादि को भी यथार्थ रूप से नहीं जानते हैं यही अविद्या हैं और यही अविद्या का क्षेत्र हैं[28]। डा. नलिलाक्षदत्त ने अविद्या को चरम सत्य, बोधि व निर्वाण के ज्ञान का अभाव कहा हैं किन्तु अभाव का अर्थ वे अस्तित्व हीनता से नही लेते। अपितु यह कहते हैं कि अविद्या राग, द्वेष, मोह आदि ही हैं[29]।

हम यहाँ उपनिषदों में से कुछ ऐसे उदाहरण दे सकते हैं, जिनसे वहाँ अविद्या के रूप में किए गए विचार पर कुछ प्रकाश पड़ सके और उसकी साम्यता भगवान् बुद्ध की "अविद्या" की दृष्टि से की जा सकती हो। कठोपनिषद में कहा गया है कि जो संसार में पुत्र पश्वादि में दुःख सुखादि का अनुभव अविद्या के कारण करते हैं, वे तमसाच्छिन्न दृष्टि से ऐसा करते हैं और तालिक रूप से पदार्थ का अर्थ नहीं समझते[30]।

---

27. ख. नि. 1(क.), पृ. 63
28. सं. नि. 2(क.), पृ. 388
29. उ. प्र. बौ. वि., पृ. 150
30. क., पृ. 47

पुरूष ही सर्वांशतः विश्व में व्याप्त है। इसका व्याख्यान करते हूए मुण्डक में यह कहा गया है कि इस दृष्टि से अविद्या नष्ट हो जाती है और सत्य दृष्टि उद्भूत होती है[31]।

जब बुद्ध ने यह अनुभव किया था कि ''इमस्मि सति इदं होति'' उसी समय उनकों यह ज्ञान भी उत्पन्न हुआ था, ''इमस्मिं असीत इदं न होति, इमस्य निरोधा इदं निरूज्झति'', यह न होने से यह नहीं उत्पन्न होता, इसके निरूद्ध हो जाने से यह निरूद्ध हो जाता है[31]। जबकि उन्होंनं यह विचार किया जब सभी की उत्पत्ति मूल रूप से अविद्या प्रत्यय से होती है तो अविद्या के निरूद्ध होने से सभी अन्य प्रत्यय अवश्य ही निरूद्ध हो जायेगें। इसलिए भगवान् के चित्त में यह हुआ कि अविद्या के निरूद्ध होने से संस्कार का निरोध होता हैं, संस्कार के निरोध होने से विज्ञान का निरोध होता हैं। इसी क्रम से पूर्व के निरोध होने से पर का निरोध होता हैं। जाति के निरोध हो जाने से दुःख दौर्मनस्यादि का निरोध हो जाता हैं।

प्रतीत्य समुत्पाद के इस स्थापन पर इनमें से कुछ प्रत्ययों का अर्थ करते हुए हार्वर यह कहते है कि ''संस्कार'' शब्द से तात्पर्य्य कर्म फारमेशनस् (कर्म निर्माण) होना चाहिए। इसी तरह वे जाति का अनुवाद जन्म अवधारण अथवा मनोवैज्ञानिक शारीरिकता करना चाहते हैं[32]।

मज्झिम निकाय में एक स्थान पर भगवान् बुद्ध के समक्ष एक भिक्षु द्वारा प्रश्न किए जाने का उल्लेख हैं कि मन्ते। प्रतीत्य समुत्पाद कुशल भिक्षु होता है। तब बुद्ध

---

31. मुण्डक (उ.स.), पृ. 514
32. खु. नि. 1 (क), पृ. 64

ने यही उत्तर दिया था कि जो इसके होने पर यह होता है - ऐसा जानता है तथा इसके न होने पर यह नहीं होता है - यह भी जानता है, यह प्रतीत्य समुत्पाद कुशल होता है[33]। और जब भगवान बुद्ध ने स्वयं प्रेरणा से भिक्षुओं को प्रतीत्य समुत्पाद का आदेश दिया तो वे विस्तार पूर्वक प्रत्येक प्रत्यय के विषय में विवेचन करते गए और निष्कर्ष रूप मे कहा कि जो पूर्व में अनुश्रुत धर्म हैं उनके प्रति सत्य दृष्टि होती है तथा वस्तु सत् के अभाव का कारण ज्ञात होता है।

इस प्रकार से भगवान् बुद्ध ने प्रतीत्य समुत्पाद के माध्यम से यह प्रतिपादित कर कि समग्र भाव प्रत्यय चक्रों पर आधारित क्षणिक प्रतीति का ही स्वरूप है। अविद्या प्रत्यय के विनष्ट होने पर समग्र भवचक्र का अवरोध होने पर उसमें आत्म तत्व की प्रतीति मिथ्या है।

धम्मपद की गाथाओं में भी दुःख, सत्य और इसकी दुःखात्मकता की स्थिति का वर्णन करते हुए भगवान बुद्ध ने वहां कहा कि इस संसार में अनुराग और आनन्द कहां है। क्योकि यहां प्रतिक्षण जल रहा है, दुःख है। अन्धकार, जो अविद्या का ही पर्याय जैसा है, से आवृत इस भव में प्रकाश खोजना चाहिए। यह जीवन, यह रूप जीर्ण हो रहा है, रोग का आधान, क्षण भंगुर भेदित होने वाला दुर्गन्ध युक्त तथा मरण पर्यन्त तक ही है[34]। मैक्समूलर जलने को दुःख के रूप का पर्याय मानते हैं।

रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्ध में आत्मा के अभाव का बोध

---

33. म. नि. 3(क.) पृ. 127

34. खु. नि. 1 (क), पृ. 31

कराने के लिये भगवान द्वारा यह कहा गया कि "संखारा सस्सता नत्थि" सब्बे सखांरा अनिच्चा "ति" सब्बे संखारा दुक्ख "ति" सब्बे धम्मा अनन्ता' ति।" सभी संस्कार शाश्वत नहीं हैं, अनित्य हैं, दुक्ख रूप हैं! स्भी धर्म अनात्म हैं। जो यह दुःख हैं, अशाश्वत हैं, अनित्य है और आत्मा से रहित हैं। इन स्कन्धों में आत्मा और जीव की कोई सत्ता नहीं हैं। यहाँ केवल पंच स्कन्ध के स्थान पर संस्कारों की अनित्यता और दुःखता कहे जाने पर मैक्समूलर ने अपना यह मत व्यक्त किया हैं कि अद्व कथाकार द्वारा संस्कार का समग्र फन्चस्कन्ध के रूप में स्वीकार किए जाने पर यहाँ संस्कार का अनुवाद शरीर (बाडी) किया जा सकता है[35]।

भगवान द्वारा संस्कार में अनित्यता और दुःखता का प्रतिपादन कर चुकने पर सभी धर्मो में आत्म-अभाव उपदेश दिया गया हैं। वुद्ध कहते है कि सभी धर्म आत्मा से रहित हैं। वस्तुतः आत्मा हैं ही नहीं। जब प्रज्ञा से उन धर्मो को देखा जाता है, तो आत्म तत्व का अभाव ही दिखाई देता है और उसी स्थिति में दुःख से छुटकारा होता हैं।

भगवान बुद्ध के इन सभी उपदेशों और आख्यानों में प्रतीत्य समुत्पद का सिद्धान्त उनके आत्मा चक्र का अनुपमेय उदाहरण हो सकता है। समग्र भव, जो अविद्या की भित्ति पर अस्तित्वहीन होकर भी खड़ा है, यदि अविद्या के विनष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाता हैं। तो फिर ऐसे किसी सत् तत्व की अवशेष स्थिति की कल्पना ही नहीं की जा सकती जो जीव, सत्व और आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित

---

35. डी.पी.(एस.बी.ई.10), पृ. 54

होकर नित्य, और व्यापक स्वरूप स्थापित कर सकें। अतएवं अविद्यादि के नाश होने पर सम्यक् ज्ञाप की प्राप्ति पर सत् रूप आत्मा का शेष रहना सिद्ध नहीं हो सकता। इसीलिए चार्ल्य ने अपनी टिप्पड़ी में यह कहा है कि वस्तु प्रक्रिया के सम्बन्ध में प्रतीत्य समुत्पाद से बढ़कर बौद्ध दर्शन की दृष्टि को अन्य कोई सिद्धान्त इतने प्रभावी ढ़ग से व्याख्यात नहीं कर सकता। जिससे आत्मा का अस्तित्व भी निःशेष अनुभूत होता है[36]।

अभिधर्म पिटक, जो अपेक्षाकृत सूत्रपिटक और विनयपिटक से अर्वाचीन माना जाता है और जिसका संगायन प्रथम तथा द्वितीय संगीति के वक्त हुआ था।। बुद्ध के विचारों को विस्तार पूर्वक और दार्शनिक भाषा में उपस्थित करता है। विभंग, जो अभिधम्म पिटक के महत्वपूर्ण अंशो में से एक हैं रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्धों को विस्तार पूर्वक विवेचन करता हैं। इस ग्रन्थ के सुत्तन्त भाजनीय खण्ड में चार्य आर्य सत्यों का विवरण देते हुए दुःख आर्य सत्य के विश्लेषण में जाति, जन्म, जरा, मरण, शोक, प्रिय से वियोग, अप्रिय से संयोग, इच्छित वस्तु की अप्राप्ति, अनिच्छित वस्तु की प्राप्ति को दुःख बताते हुए पंच स्कन्धों को ही दुःख कहा गया है[37]। और इस प्रकार भगवान बुद्ध ने मध्यम मार्ग का आश्रय लेकर पोट्पाद को दुःख सत्य का जो उपदेश दिया था उसी की पुनरावृत्ति यहाँ की गई हैं। पंच स्कन्धों में रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को गिनाकर इनकी समन्विति में ही व्यक्ति का अस्तित्व बुद्ध सिद्ध करते हैं। व्यक्ति जो जन्म, जरा और मरण का विशेष स्वरूप भगवान इसलिये कहते हैं जिससे पंच स्कन्धात्मक व्यक्ति में जीव

---

36. एफ.डी.बी.1 (चा.), पृ. 187

37. वि. (क.), पृ. 126

या आत्म दृष्टि का प्रहाण हो जाये भगवान बुद्ध ने " या तेषा तेसं सन्तानं तम्हि तम्हि सन्तनिकाये जाति सञ्जाति ओकन्ति अभिनिव्वत्ति खन्धानं पातुभावो आयतनानं पटिलाभो - अयं वुच्चति "जाति", कहा है। इसी तरह से बुद्ध जीर्णता, खण्डिता, पलितता को जरा तथा स्कन्धों के भेद को शरीर के निक्षेप को जीवेन्द्रियों उपच्छेद को मरण कहते हैं[38]।

इस भांति जाति, जन्म और मरण स्कन्धों, आयतनों और धातुओं, का ही कहा जाता हैं अन्य किसी जीव अथवा आत्मा का नहीं। इसी लिए बुद्ध यह मानते हैं कि इन स्कन्धों में जीव या आत्मदृष्टि सम्मत दृष्टि नहीं। मिथ्या धारणा से पतित, च्युत और विपरिणमित होने वाले स्कन्धों में आत्मा की प्रतीति होती हैं।

भगवान बुद्ध के समय ही विभिन्न वाद उत्पन्न हो गए थे और उनमें से वज्जिपुत्तक और सम्मितिय जैसे भिक्षु यह प्रश्न करने लगे थे कि परमार्थतः सत्य, जीव, और आत्मा का अस्तित्व हैं अथवा नहीं हैं। कथावस्तु इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देती हैं और किसी सत्य, जीव या आत्मा के अस्तित्व का खण्डन करती हैं। जब भगवान बुद्ध से यह पूंछा जाता है कि "पुग्गलो उपलब्भति सच्चिकट्ठ परमत्थेना' ति"। क्या पुद्गल सत्यतः, परमार्थतः उपलब्ध हैं[39]। कथा वस्तु में उठाये गए इस प्रश्न को अनेकों प्रकार से समाधानित करने का प्रयत्न किया गया और सप्रमाण यही निष्कर्ष बताया गया कि पुद्गल सत्यतः उपलब्ध नहीं है। पुद्गल केवल प्रज्ञप्ति मात्र हैं, केवल पंचस्कन्ध ही उपलब्ध होते है और यही सत्तावान् हैं। इन्हीं पंच स्कन्धों में

---

38. वही, पृ. 136

39. क. (क.) पृ. 3

ही उपलब्ध होते है और यही सत्तावान् हैं। इन्हीं पंच स्कन्धों में ही पुद्गल प्रज्ञप्ति होती है - ''यो सच्चिकट्ठों परमत्थे, ततो से पुग्गलो उपलब्भति सच्चिकट्ठ परमत्थेना' ति'' मिच्छा''[40]।

पुद्गल की यदि सत्ता स्वीकार की जाती हैं तब यह प्रश्न भी स्वयं खड़ा हो जाता है कि पुद्गल क्या सर्वत्र उपलब्ध हैं, पुद्गल की क्या सार्वकालिक सत्ता है। क्या पुद्गल सर्वत्र व्याप्त हैं। स्पष्टतः इन प्रश्नों के उत्तर में यही कहा जा सकता हैं कि यदि पुद्गल सत् रूप हैं तो वह सर्वत्र कैसे उपलब्ध होगा। सभी में एक ही रूप में केसे व्याप्त होगा सर्व काल में कैसे रहेगा! यदि सत् रूप पुद्गल नहीं हैं तब भी वह सर्व काल में सर्वत्र और सभी में प्रज्ञप्त नहीं हो सकता। अतः बुद्ध का यह कथन हैं कि जैसे वृक्ष से छाया की प्रज्ञप्ति होती हैं उसी तरह रूपादि स्कन्धों में पुद्गल प्रज्ञप्ति होती हैं किन्तु नवृक्ष सत्य हैं और न छाया, उसी तरह न पंच उपादात स्कन्ध सत्य है और न उनकी छाया। रूपादि में केवल छाया की भांति पुद्गल प्रज्ञप्ति होती हैं जबकि पुद्गल सत्यतः प्राप्त नहीं है।

उपनिषदें जहाँ आत्मा के प्रतिपादन में प्राण को ही आत्मा कहती हैं वहां यह भी कहा जाता है कि ये इन्द्रियां प्राण नहीं हैं। छान्दोग्योप निषद में श्रेष्ठता प्रदर्शन में सभी इन्द्रियों ने क्रमशः शरीर का त्याग किया था। किन्तु शरीर प्राण के रहते हुए जीवित रहा था। बाद में सभी इन्द्रियों ने प्राण को ही अपना स्वामी मान लिया था[41]।

---

40. वही, पृ. 3

41. छा. 5/1/6-15

रैक्व के कथन से भी प्राण इन्द्रियों से पृथक और महत्वपूर्ण सिद्ध होता हैं। क्योंकि सभी इन्द्रियों का वही विलय स्थल है। इसी बृहदारणयक में परम तत्व के निरूपण में यह कहा गया कि वह न अक्षर हैं, न स्थूल हैं, न अणु हैं, न लघु हैं, न दीर्घ हैं, वायु, आकाशदि से भिन्न हैं, रूप, रस, गन्ध, का भी वह विषय नहीं हैं। और भी उस आत्मा के लिए यह कहा गया कि यह अग्राहय, अवर्ण, चक्षु, से भिन्न श्रोत से भिन्न है[42]।

इस प्रकार से आत्मा अन्वेषण और स्थापन की दिशा में अग्रसर उपनिषदें भी यही कहती है कि वह आत्मा इन्द्रिय, महाभूत और शरीर से भिन्न है। जबकि भगवान बुद्ध यह कहते है कि इन्द्रिय आदि में ही जीव या आत्मा-प्रज्ञप्ति मिथ्या ज्ञान के कारण होती हैं। इस इन्द्रियादि महाभूतों के अतिरिक्त अन्य कोई तत्व नहीं है जो आत्म पद से ज्ञेय हो।

---

42. मुण्ड. 1/1/6

(ग) अनुपिटक साहित्य में अनात्मता

आगे दिये जा रहे उद्नरणों और साक्ष्यों के आधार पर यह कहना सम्भव हो सकेगाकि नेतिप्रकरण, पेटकोपदेश और मिलिन्द प्रश्न की रचना त्रिपिटक के संकलन के बाद और अट्ठ कथाओं की रचना के पूर्व हुई थी। ईहार्डी और गायगर दोनों ही तर्को से भिन्न-भिन्न कसौटियों का निष्कर्ष देकर यही कहते हैं कि नेत्तिप्पकरण की रचना ई0 की प्रथम शताब्दी में हुई होगी[1]। और इसी प्रकार से इस ग्रन्थ की विषय वस्तु का पर्यालोचन कर एक विद्वान इसे अभिश्रर्म के पश्चात् की रचना कहते हैं तो दूसरे विद्वान इसे पट्ठान के पूर्व की रचना मानते हैं[2]। विन्टर नित्ज को भी यही अभिप्रेत हैं कि नेत्ति अथवा नेत्तिपकरण अभिधर्म पिटक के अन्तिम दो गन्थों के पूर्व रचा जा चुका होगा[3]।

अनुपिटक ग्रन्थों में नेत्तिपकरण तथा पेटकोपदेश की अपेक्षा मिलिन्द प्रश्न का अत्यधिक महत्व हैं और इसकी रचना-तिथि पर भी भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विद्वानों ने विचार किया हैं। विन्टरनित्ज ने ग्रीक इतिहास का संकेत करते हुए और राजा मेनाण्डर, जो ग्रीक देश का राजा था और जिसका नाम मिलिन्द प्रश्न में मिलिन्द हुआ, के शसन काल का अनुमान करते हुए यही निष्कर्ष देने का प्रयत्न किया हैं कि मिलिन्द प्रश्न की रचना ई0 की प्रथम शताब्दी में हुई होगी[4]। पाश्चात्य विद्वान रायस् डेविस ने भी यही समय मिलिन्द प्रश्न की रचना के लिए स्वीकार किया हैं[5]। कश्यप जी ने मिलिन्द का समय ई. पू. 150 वर्ष बताया गया और यह कहा गया कि मिलिन्द प्रश्न की रचना इसके बाद ही हुई होगी[6]।

---

1. ने.प., भू.पृ. 8, पा.लि.लै., पृ.26
2. पा. सा. ई. (सिंह), पृ. 470, ज. रा. ए. सो. (1925), पृ. 111-112
3. हि. इ. लि. 2, पृ. 183
4. वही, पृ. 174-175
5. कि.मि.भा. 35 भू. पृ. 45
6. मि.प्र. (कश्यप), भू. पृ. 6

मिलिन्द प्रश्न पर कार्य करने वाले एक स्कालर का यह मत हैं कि पालि मिलिन्द प्रश्न के पहले चीनी भाषा में मिलिन्द प्रश्न प्राप्त रहा होगा। विचार की स्थापना में प्रश्न प्राप्त रहा होगा। इस विचार की स्थापना में वे यह तर्क देते हैं कि पालि मिलिन्द प्रश्न निश्चित रूप से थेरवाद का प्रतिनिधि ग्रंथ है जबकि चीनी मिलिन्द प्रश से यह ज्ञात नहीं होता कि वह किस निकाय का ग्रन्थ हैं। अतएव यह धारणा व्यक्त करना असमीचीन नहीं है कि चीनी भाषा मिलिन्द प्रश्न की अपेक्षा पालि भाषा में मिलिन्द प्रश्न की रचना बाद में तब हुई जब बौद्ध दर्शन में निकायों का वर्गीकरण हो चुका था[7]। इन उक्त सभी मतों में अध्कितया यही विचार विचारणीय प्रतीत होता हैं कि मिलिन्द प्रश्न की रचना ई0 की प्रथम शताब्दी में ही हुई होगी।

जैसा कि पहले भी संकेत किया जा चुका है कि अनुपिटक साहित्य में मिलिन्द प्रश्न इस प्रकार की रचना है जो बौद्ध दर्शन के क्षेत्र में अपनी अपूर्व शैली से बौद्ध दर्शन के गूढ़तम तत्वों के उद्घाटन में अनुपमेंय हैं। भगवान बुद्ध के समय भी उनसे यही प्रश्न किया जाता था कि लोक शाश्वत है या अशाश्वत, यह अन्तज्ञान हैं या अनन्त। तथा गत मृत्यु के बाद भी होते हैं या नही। और तब भगवान् बुद्ध इस प्रकार के प्रश्नों को अव्याकरणीय कहकर मध्यमा प्रतिपदा का उपदेश करते थे[8]।

हम मिलिन्द प्रश्न में यह देखते हैं कि मिलिन्द के मन में भी ऐसे ही प्रश्न उठ रहे है और वह नागसेन से वस्तु के अस्तित्व के सम्बन्ध में यही प्रश्न करता हैं "भन्ते! नागसेन यो उप्पज्जति सो एव सो उदाहु अञ्ञो'ति। जो उत्पन्न होता हैं वही व्यक्ति है या दूसरा?"

नागसेन की यही प्रत्युत्पन्न मति हैं या कि उनकी बौद्ध विचारो की प्रौढ़ता कि वे मिलिन्द के इस प्रश्न को सतर्क होकर उत्तरित करते हैं। वे उपमा और उदाहरण देकर कहते हैं कि सम्राट! जो मरकर उत्पन्न होता है न वह वही है और न अन्य क्योंकि यदि वह वही होता तो उत्पत्ति के यमय छोटा सा शिशु इतने बड़े आकार में अधिक अवस्था होने पर कैसे परिवर्तित होता। और यदि वह अन्य होता तो न

---

7. एम. एन. बी. एस., पृ. 23
8. दी. नि.। (क) पृ. 156-157

कोई किसी की माँ होती, न कोई किसी का पिता। क्योंकि तब तो प्रतिक्षण बदलने से सैकड़ों माताएं, पिता और गुरू होते। इसलिए राजन् मरकर जन्म लेने वाला न वही होता हैं और न कोई अन्यात्रिपिटक में दी हुई दीपक की उपमा को दोहराते हुए नागसेन ने तब सिद्वान्त रूप में यही कहा कि जैसे रात्रि भर जलने वाले दीपक की लौ न वही है, न अन्य, अपितु, प्रकाश का एक सतत् प्रवाह हैं, उसी भाँति वस्तु के अस्तित्व में एक अवस्था एक क्षण में लय होती हैं[9] और दूसरे क्षण उत्पन्न होती हैं। यही अनवरत् क्रम वस्तु के अस्तित्व का मापक हैं। यही दृष्टि पुरूष के मृत्यु और जीवन के सम्बन्ध में भी अवगन्तव्य हैं।

बुद्ध ने वस्तु के नित्यत्व के खण्डन के लिए प्रतीत्य समुत्पाद के द्वारा अनुलोम-प्रतिलोम दृष्टि से विचार कर यह अनुभव किया था कि अविद्या दृष्टि ही संस्कारादि की जननी हैं। यदि अविद्या दृष्टि का निरोध हो जाए तो संस्कारादि का निरोध स्वतः होगा। त्रिकाल के परिप्रेक्ष्य में वस्तु के अस्तित्व का प्रश्न उपस्थित किए जाने पर मिलिन्द को नागसेन ने जो उत्तर दिया था उसका भी यही तात्पर्य था कि काल का अस्तित्व हैं और नहीं भी हैं। इन तीनों का मूल अविद्या हैं। "अतीतस्य च महाराज अद्धानस्स, अनागतस्स च अद्धानस्स, पच्चुप्पन्नस्स च अद्धानस्स अविज्जा मूलं।" और अविद्या प्रत्यय से ही संस्कारादि उत्पन्न होते हैं। इसका प्रारम्भ काल के परिपेक्ष्य में कहना सम्भव नहीं है क्योंकि यह क्रम अनन्त कालिक हैं। जैसे बीज से अंकुर और अंकुर से बीज का प्ररोहण[10]।

वस्तु नित्य और सार्वकालिक नहीं हैं तथा वह आकस्मिक रूप से उत्पन्न भी नहीं हैं। इसका उपमाओं और उदाहरणों द्वारा समर्थन करते हुए नागसेन ने यही कहा कि एक सतत् प्रवाह के रूप में वस्तु का अस्तित्व प्रतिभासित होता हैं जबकि वह वस्तु अपने प्रत्यय पर आश्रित होकर एक क्षण अस्तित्व में आकर लय हो जाती हैं और दूसरे क्षण अपर वस्तु का उत्पाद हो जाता हैं। यह उत्पाद लय का क्रम अपने-अपने प्रत्ययों पर आश्रित होकर अनन्तकालिक रूप में प्रवहमान हैं। इसलिए से

---

9. मि. पं., पृ. 42

10. मि. प्र., पृ. 62-63

भाव (वस्तु) की उत्पत्ति का सिद्वान्त भी ठीक नहीं है[11]।

इसी हेतु से नागसेन जब संसार के रूप का व्याख्यान करते है तो वे कहते हैं कि यहाँ उत्पन्न होकर यहीं मरता हैं तथा दूसरे स्थान पर लेकर वहीं मरता है तथा अन्य स्थान पर जन्त लेता है। जैसे आम के फल की गुठली से दूसरा आम और दूसरे आम के फल की गुठली से तीसरे आम की उत्पत्ति का क्रम होता है। यह अनन्तकालिक वस्तु प्रत्यय से उत्पत्ति विलय का क्रम ही संसार है जो क्षणिक और अनित्य हैं। और इसलिए लोक नित्य हैं या अनन्त जैसे प्रश्न जब किए जाते है तो बुद्ध का ही अनुसरण करके अनुयायी भी इस प्रकार के प्रश्नों को आगे अढ़ाना नहीं चाहते। क्योंकि ये प्रश्न किसी तरह से सिद्धान्त के निष्कर्ष उपस्थित कर पाने में समर्थ नहीं होते। ‘‘न तस्स दीपनाय हेतु व कारणं व अत्थि, तत्मा सो पञ्होठपनीयों। नीत्थ भगवन्तानं बुद्धानं अकारणम हेतुकं गिरमुदीरण ति’’[12]। नगसेन ने इसलिये लोक की क्षणिकता और वस्तु की अनन्त प्रवाह-सत्ता का सिद्धान्त स्थापित कर मिलिन्द को स्मरण दिलाया था कि भगवान् बुद्ध ने भी मालुक्ड पुत्र के ऐसे प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दिया था[13]।

---

11. मि.प्र. (कश्यप) पद टिप्पड़ी, पृ. 66
12. वही, पृ. 147
13. मि.प्र., पृ 179-180

(घ) महायान सूत्रों में अनात्मता :-

जैसा कि प्रथम अध्याय में कहा जा चुका हैं कि महायान सूत्र प्रमुख रूप से भगवान बुद्ध के जीवन को अति मानवीय रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करते है और विविध स्तुति कथनों से उनकी प्रार्थना करते है। किन्तु इसके साथ ही भगवान बुद्ध के उपदेशों को समझने-सामझाने में उनके शिष्यों और अनुयायियों में जो विचार-विमर्श हुआ हैं। उससे आत्मा के अस्तित्व-नास्तित्व पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इसलिये प्रज्ञापारमिताओं के प्रतिपादन क्रम में बोधिसत्व ने कहा कि तथागत न उत्पन्न होते है। और न अनुत्पन्न।। तथागत न कहीं से आते है, न कहीं जाते है, न खुल कुलपुत्र तथागताः कुतश्चिदागच्छन्ति वा गच्छन्ति वा''[1]।

इस तथ्य को प्रतिपादित करते हुए यह उपमा दी गई है कि जैसे ग्रीष्म से अभितप्त पुरूष धूप को देखकर उसमें जल की कल्पना कर लेता हैं, अथवा वह उस जल के आने या जाने का विश्वास करता है और उसमें जल की प्रतीतिपा लेता है किन्तु उसकी यह दृष्टि बाल दृष्टि है और उस ग्रीष्म की धूप में जल की प्रतीति मिथ्या हैं उसी तरह तथागत की प्रतीति और इनका आना-जाना बाल जनों की कल्पना हैं।

इस प्रकार का एक तर्क और भी दिया जा सकता है कि जैसे द्रोणी, चर्म तन्त्र और पुरूष के सहयोग से वीणा का शब्द निस्सारित होता हुआ भी वह शब्द न कहीं से आता है और न कहीं जाता हैं तथा वीण का शब्द न किसी एक हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होता है और न सभी हेतु प्रत्ययों से उत्पन्न होता है, अपितु वह

---

1. अ.सा.प्र.पा. पृ0 253

शब्द एक हेतु प्रत्यय से भी उत्पन्न होता हैं और अनेक हेतु प्रत्ययों से भी उत्पन्न होता है। इस तरह से तथागत के गमन और आगमन को भी देखना चाहिए- एवं त्वया कुलपुत्र तेषां तथागतानामागमनं च गमनं च दृष्टव्यम्''[2]।

बुद्ध बोधिसत्व, प्रज्ञापारमित को नामधेय मात्र कहते हुए अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञापारिमिता में इन्हें अनमिनिर्वृत्त कहा गया है, "बुद्ध इति भगवत् नामनयमात्रमेतत्। बोधिसत्व इति भगवत् नामधेय मात्रमेतत्"। प्रज्ञापारमितेति भगवन् नामधेय मात्रमेतत्। तच्च नामधेयमनभिनिर्वृतत।" आत्मा जो भगवान ने कहा हैं वह भी अनिभिनिर्वृत्त मात्र हैं - यथा आत्मा आत्मेति च भगवन्नुच्यते, अत्यन्ततया च भगवन्नभिनिर्वृत्त आत्मा[3]।

प्रज्ञापारमित टीका करने वाले प्रसिद्ध टीकाकार हरिभद्र ने इस प्रसंग के तर्क देते हुए आत्मा के अस्तित्व का खण्डन किया है और यह कहा है कि अर्थ-क्रिया के असामर्थ्य से गधे के सींगो की भांति अनुपलब्धता से आत्मा अत्यन्तरूप से अनुपब्ध है।

पंच स्कन्धों में आत्मा की कल्पना अथवा आत्म व्यवहार का निषेध महायान सूत्रों में अनेकशः किया गया हैं। इसका हेतु यही कहा है कि रूपादि स्कन्ध अनित्य हैं, अत्म शून्य हैं। इनका स्वभाव जड़ है और तृणा की भांति निरीह है। अतः इन स्कन्धों में आत्मा, जीव, नर आदि की प्रतीति केवल व्यवहार है, यथार्थ नहीं। हेतु-प्रत्ययों से धर्मोत्पत्ति का क्रम भी आकशवत् है असत् भूत है इसलिए इन धर्म समूहों में भी कर्ता, ज्ञाता, शुभाशुभ कर्म की फल-प्रतीत नहीं होतीं।

---

2. अ.सा.प्र.पा. पृ0 254-255
3. अ.सा.प्र.पा., पृ0 13

और महायान सूत्रों में भगवान बुद्ध द्वारा उपदेषित प्रतीत्य-समुत्पाद के माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि अविद्या प्रत्यय से संस्कार और संस्कार प्रत्यय से विज्ञान, नाम, रूपादि की उत्पत्ति होती है और अन्ततः कुछ अन्य नहीं "एवमेतस्य केवलस्य महतो दुःखस्कन्धस्य समुदयो भवति" केवल दुःख स्कन्ध की ही उत्पत्ति होती हैं। किन्तु विलोम दृष्टि से विचार करने पर अविद्या दृष्टि के निरूद्ध होने से संस्कार और संस्कारादि के निरूद्ध होने से दुःख स्कन्ध का निरोध होता है। इस सिद्धान्त का जिसमें अविद्या दृष्टि से तृष्णा के कारण सर्व जगत् का विशाल-रूप खड़ा हो जाता है और इसी में पंच-स्कन्ध के रूप में आत्मा, नर अथवा नियामक की प्रतीति होने लगती है, खण्डन किया गया और कहा गया कि केवल दुःख ही उदित होता है और दुःख ही का निरोध होता है - आत्मा, पुद्गल और नर की प्रतीति मिथ्या है, भ्रम है[4]।

दुःख निवृत्ति का कारण बताते हुए भगवान बुद्ध ने चन्द्रप्रभा नायक कुमार को यह उपदेश दिया था कि ज्ञान से मैं यह जानता हूँ कि स्कन्ध स्वभाव-शून्यक है। यह जानकर मैं कलेशों से दूर हो जाता हूँ। यह संसार केवल व्यवहार मात्र के लिये व्यवहृत् होता है, इसलिए मैं मुक्त होकर लोक में विचरण करता हूँ-ज्ञानेन जानाम्यहु स्कन्ध-शून्यकं। ज्ञात्वा च क्लेशेहि न संवसामि।

व्यवहारमात्रेण च व्योहरामि, परिनिर्वृतो लोकमिमं चरामि[5]।

---

4. सु.पु. (दास) पृ0 187-188, ल. वि., पृ0 419-20

5. सं.सू., पृ0 32

इस लोक मे न कोई उत्पन्न होता है न मृत्यु प्राप्त करता है। न कोई सत्व, मनुष्य या अन्य कोई वर्तमान ही है। ये सभी धर्म केवल मायोपमय है। इनका स्वभाव शून्य है। शून्य स्वाभाव से कहीं भी सत्व, प्राणी और नर ही कल्पना नहीं की जा सकती।

जब आत्मा के अस्तित्व के नकारने पर यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि फिर यहाँ कर्ता कौन है, सुकृत और दुष्कृत कर्मो के फल का भोक्ता कौन है, कौन मृत्यु के उपरान्त परलोक जाता हैं। कौन सुकृत और दुष्कृत कर्मो का फल देता है तथा उसके औचित्य का निर्धारण करता है। भगवान् बुद्ध ने इन प्रश्नों का भी उत्तर अपने विचार से दिया और यह कहा कि ऐसा कोई मनुष्य, जीव, आत्मा नहीं है जो कालकृत होकर परलोक जाता हो। न कोई ऐसा जीव ही है जो कर्म करता हो और उस कर्म का फल भोगता हो। न कोई ऐसा सत्व कल्पित किया जा सकता है जो अकृत और सुकृत का फल देता हो, अथवा दुष्कृत और सुकृत फलों में विभाग करता हो -

नास्ति सत्व मनजो व लम्भते

कालु कृत्व परलोकि गच्छि यो।

नो च कर्म कृतु विप्रणश्यते

कृष्ण पुक्लं फल देति तादृशम्[6]।।

लंकावतार सूत्र धर्मो में आत्मा का निषेन करता है और पुद्गल नैरात्म्य का भी विवेचन करता है। आत्मा, आत्मीय, स्कन्ध धातु, आयतन समूह में अज्ञान और

---

6. स.सू., पृ. 136

तृष्णादि के प्रभाव से चक्षुरादिन्द्रियों के द्वारा रूपादि के अभिनिवेश से विज्ञान चित्त की विकल्पना करता हैं तथा नदी, बीज और दीपक के तुल्य परम्परा के प्रवाह में ही वह सब में आत्मा की कल्पना करता है। इसमें लक्षण-कौशल ज्ञान ही पुद्गल नैरात्म्य ज्ञान है[7]।

धर्म नैरात्म्य की स्थापना में यह कहा गया है कि स्कन्ध, धातु, आयतन समूह हेतु, कर्म, तृष्णा से अन्योन्याश्रित निरीय मात्र हैं इसलिए इन निरीह और पराश्रित धर्मों में उनके सामान्य लक्षण के अतिरिक्त परिकल्पित आत्मादि का लक्षण देखना बालजनों की कल्पना है।

''चित्तमनोमनोविज्ञान पञ्य धर्मस्वभावरहितान् महामते सर्वर्मान विभावमन् बोधिसत्वो महासत्वो धर्मनैरात्म्यकुसलो भवति[8]।''

एक बार महामति ने भगवान् से यह जिज्ञासा प्रकट की कि भगवन् तथागत् अकृतक है, कृतक है, लक्ष्य, लक्षण, अविधान अथवा अभिद्येय हैं। तब तथागत ने इसका उत्तर देते हुए यह कहा था यदि तथागत कृतक हैं तो अनित्य होंगें, यदि तथागत अकृतक हैं तो आकाश पुष्प, शशिश्रृड़ और वन्ध्या पुत्र की भाँति अनुपलब्ध होगें। और इन दोनों के न होने पर महामति जो न कार्य है न कारण है वह न सत् हैं, न असत् है न उभयकोटिक भिन्न है। जो सत् असत् भिन्न हैं वह चतुष्कोटि बाहय है और यह चतुष्कोटिक बाहय भी लोक व्यवहार है - चातुष्कोटिक च महामते लोक व्यवहारः। यच्च चातुष्कोटिकबाहयं तदवाग्मात्रं प्रसज्येते वन्ध्या पुत्रवत्[9]।

---

7. ल.स., पृ. 29
8. वही, पृ. 29-30
9. वही पृ0 - 76

इसी प्रकार से शून्य और अनुत्पाद स्वाभावी होने से सर्वधर्मों में अनात्मता का भाव जानना चाहिए। इसी तरह से स्कन्धों से तथागत न भिन्न हैं, न अभिन्न है। यदि तथागत स्कन्धों से संयुक्त होंगें तो स्कन्धों से अभिन्न होंगें, अनित्य होगें और यदि अनित्य होगें तो स्कन्धों की भाँति कृतक होगें। इस प्रकार की स्थिति में दोनों होने पर अथवा इससे भिन्न होने पर गोविषाण की तरह अन्यथा ही तथागत् का रूप होगा - "एवं शून्यानुत्पादास्वाभाव्यं सर्वधर्माणां प्रत्यवगन्तव्यम्। एवं स्कन्क्षेम्यो नान्यो नानन्यस्तथागतः। यद्यनन्यः स्कन्धम्यः स्यात् अनित्यः स्यात् कृतत्वात्स्कन्धानाम्। अथान्यः स्यात्, दूये सत्यन्यथा भवति गोविषाणवत्[10]।"

इसलिये तथागत की नित्यता और अनित्यता का निष्कर्ष रूप देते हुए यूही कहा गया कि जब तक का व्यवहार प्रवर्तित होता है तभी तक नित्य-अनित्य का व्यवहार तथागत् के लिए होता है। तथा गत नित्यानित्य के विवके से परे है[11]।

बौद्ध दर्शन में जब सभी पदार्थों को पंचस्कन्ध में व्याख्यात किया गया तो इन स्कन्धों के अतिरिक्त अन्य किसी आत्म तत्व की कल्पना का भी निषेध किया गया है। महायान सूत्र जहाँ पदार्थो की वस्तु सत्ता का निषेध करते हैं वही वे स्कन्धों में अथवा स्कन्धों से भिन्न आत्मा का निषेध करते है, क्योंकि उनके मत से न तो स्कन्धों से आत्मा की प्रज्ञप्ति हो सकती है और न आत्मा से स्कन्धों का ज्ञान। जैसी इनकी कल्पना है वैसी आत्मा नहीं है। जैसी आत्मा की कल्पना है वह वैसी भी नहीं है[12]।

लंकावतार सूत्र यह कहता है कि सभी का ज्ञाता, सभी के द्वारा ज्ञेय अथवा सभी के बीच सभी नहीं हैं :-

---

10. ल.सू., पृ0 - 76

11. वही, पृ0 88

12. वही, पृ0 64, 116

सर्वस्य वेत्ता न च सर्ववेत्ता। सर्वस्य मध्ये न च सर्वमस्ति[13]।

स्कन्धमात्र में आत्मा, सत्त्व, पुद्गल का अभाव है। केवल विज्ञान ही उत्पन्न होता हैं और विज्ञान ही निरूद्ध होता हैं और आलय विज्ञान ही प्रवर्तित होता है।

नास्ति स्कन्धेस्वात्मा न सत्वो न-व पुद्गलः।
उत्पद्यते-च विज्ञानं च निरूध्यते[14]।।

पुद्गल, सन्तति, स्कन्ध, प्रत्यय, अणु, प्रधान, ईश्वर, कर्ता केवल चित्त की कल्पना है, वस्तुतः इनका कोई अस्तित्व किसी भी रूप में नही है[15]। चित्त और मन विज्ञान के ही विविध भेद है और इनके विविध रूप में आत्मा की कल्पना संगत नहीं है[16]।

समस्त वस्तु जगत में और स्कन्ध समूह तथा पुद्गल में वही आत्मा की भावना करता हैं जो विवेकी नहीं है। वह इसी तरह इनमें आत्मा देखना चाहता है जैसे वीणा, शंख, मेरी में कोई स्वर और माधुर्य देखना चाहे। जैसे औषधियों में क्षार तत्व, ईधन से अग्नि का अस्तित्व ज्ञान और उसकी विद्यमानता है उसी तरह से स्कन्धों में पुद्गल की स्थिति को अयुक्तिज्ञ नहीं देखते। वे अन्य आत्मा का अन्वेषण करते है[17]।

त्रिपिटक में तथागत मृत्यु के पश्चात् होते हैं या नहीं जैसे प्रश्न भगवान् बुद्ध के समक्ष उपस्थित किए जा चुके थे और वहाँ बुद्ध ने ऐसे प्रश्नों के औचित्य का ही

---

13. वही पृ0 108
14. वही, पृ0 111-134
15. ल.सू., पृ0 34, 116
16. वही, पृ0 134
17. वही, पृ. 157

निषेध किया था। महायान सूत्रों में सुवर्ण प्रभास सूत्र में तथागत के स्वरूप के सम्बन्ध में एक नया दृष्टिकोण दिया गया हैं। जिसमें उनके रूप को अचित्न्य, नित्यकाय बताया गया हैं। वे सत्वों के हित के लिए विविध देशनाओं का उपदेश करते है -

अचिन्तयों भगवन्बुद्धो नित्यकायस्तथागतः।
देशेति विविधा न्व्यूहान्सत्वानां हितका रणात्[18]।।

यद्यपि एक स्थान पर सभी सत्व स्वप्नवत् है और स्वयं नायक भी महाशून्य हैं, कहा गया है - 'सर्वे च सत्वाः सुचिन स्वभावा। महान्तशून्याः स्वयं नायकस्य [19]।' जबकि शून्यता के सन्दर्भ में शरीर की निस्सारता का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि श्लेष्म, पित्त, मूत्र, पुरीष ये पूर्ण श्मशान में काष्ठभूत रूप में फेका जाने वाला यह शरीर है। इसमें सत्व, जीव और पुद्‌गल देखना भ्रान्तिपूर्ण है।

जब सर्वसत्व शून्यता का आख्यान किया जाता है तब श्रावक की काया को भी शून्य कहा जाता है। द्विपदोत्मक भगवान बुद्ध की काया और उनका बिहार शून्य है। सभी धर्म, जिनमें आत्म, जीव अथवा पुद्‌गल का व्यवहार होता है, शून्य स्वभावी है और सत्व तथा आत्मा शून्यता के कारण उपलब्ध नहीं है।

बोनिसत्व के लिए जिन पृथक्-पृथक् भूमियों का वर्णन महायान में उपलब्ध है उनमें भी उसे अनात्मता, निसत्वता का ज्ञान प्रत्येक समय होता रहता है। सुदुर्जया भूमि में पूर्व, वर्तमान तथा भविष्यत काल में अविद्या, भव और तृष्णा से वह दुःख की

---

18. सु.प्र., पृ0 9, 127

19. वही, पृ0 127

विवर्चना को ही देखता है और यह इस दु:ख स्कन्ध में निरात्म, नि:सत्व, निर्जीव, निष्पुद्गल का ज्ञान करता हुआ आत्मा-आत्मीय भाव से विगत रहता हैं - स एवं ज्ञानबलाधान् प्राप्त: सर्वसत्वसापेक्षों बुद्ध ज्ञानाभिलाषी पूर्वान्तापरान्तं सर्वसंस्कारगतस्य प्रत्यवेक्षते। यथा पूर्वान्ततो विद्याभवत्ष्णा प्रसृतानां सत्वानां संसारश्रोतोऽनुवाहिनां स्कन्छालयानुच्छलितानां दुखस्कन्धों विवर्नते, निरात्मा, नि:सत्वो निर्जीवा निष्पोषो निष्पुद्गल आत्मात्मीय विगत:, तंयथाभूंत प्रजानाति[20]।

दशभूमिकसूत्र में प्रतीत्य समुत्पाद का विशद रूप विवेचित है। अविद्या प्रत्यय से संस्कारादि की हेतु प्रत्ययता को भगवनात् अनुलोम-विलोम रीति से जैसे कहा था, उस पर विविध तर्क देकर उस ग्रन्थ में यह कहा गया कि भव के अनुसंधान से एक चित की संसरण शीलता से अपने कर्मो के असंभेद से भूत, वर्तमान, भावि की अववेक्षण से त्रिदु:ख का समुदय जानकर उत्पाद, व्यय, विनिबन्ध के अभाव, अक्षयता का प्रत्यवेक्षण कर निरात्मता, निसत्वता, निष्पुद्गलता, कर्ता, वेत्ता की रहितता का अनुभव बोधिसत्व करता है।

और जब बोधिसत्वदूरङ्मा नामक सप्तमी भूमि में विचरण करता है तथा दश उपायों से प्रज्ञा और ज्ञान से अग्रिम भूमि की ओर बढ़ता है तब भी उन दश उपायों में उसे सभी धर्मो में निरात्मता, नि:सत्वता और निष्पुद्गलता की प्रतीति होती है - नैरात्मनि:सत्व निर्जीव निष्पुद्गलतां च सर्वधर्माणभवतरति[21]।

---

20. द.सू., पृ0 27-28

21 द.सू., पृ0 36

तृतीय अध्याय
(बौद्ध प्रस्थानों में अनित्यता)

(क) वैभाषिक और अनित्यता

(ख) सौत्रान्तिक और अनित्यता

(ग) विज्ञानवादी और उनकी दृष्टि में अनित्यता

(घ) सत्तावादी और क्षणिक वादियों का मत वैविध्य

तृतीय अध्याय
(बौद्ध प्रस्थानों में अनित्यता)

(क) वैभाषिक और अनित्यता

भगवान बुद्ध के वचनों के संकलन के समय उनके मूल वचनों के प्राभज्य को लेकर भिक्षु, संघ में जो मत भेद उन्हें थें उनसे, बौद्ध निकायों का जैसा विभाजन हुआ उसका यथा तथ्य रूप में ऐतिहासिक विवरण अभी तक की इदमित्थां रूप में कहना सम्भव नही हो सका है! कीथ की दृष्टि से इसका कारण यह है कि हमारी समस्त जानकारी पश्चात् वर्ती विद्वानों और लेखकों के आधार पर आधारित है इसलिए वे यह कहते है। कि दीप वंश के अनुसार दी गई जानकारी ही बहुत कुछ रूप में विश्वस्त हो सकती जिसमें लक्डा की परम्परा के अनुसार विभज्य वादी ही थेर वादी है और वही बुद्ध के प्राचीन सिद्धान्तों का वास्तविक प्रतिनिधित्व करते हैं।[1] वैसे कथावत्थु की एक भिक्षु की नियमोलंघन की घटना को उद्घृत कर डा. नलिनक्षिदत्त यह संकेत करने का प्रयत्न करते है कि भगवान बुद्ध के जीवन काल में ही उनके उपदेशों से असहमत होने के लक्षण प्रकट होने लगे थें, जो बाद में समय पाकर फलित हुए।[2]

फिलहाल यह प्रायश माना जाता है कि भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के एक शताब्दी के पश्चात् पराम्परा वादियों और उदार वादियों में मतभेंद प्रकट हो गए थें और बाद में इसी मतभेद ने स्थविर वाद के अतिरिक्त महासांजिक वाद की स्थापना की।[3] और इसके बाद तो अठारह या चौबीस सम्प्रदायों के विभाजित होने का संकेत मिलता है, जिनमें लंका के धर्म रूचि और सागलीय सम्प्रदाय परिगणित नहीं है,।[4] लामा तारा नाथ ने भी यह मत व्यक्त किया है। कि कनिष्क के समय

---

1. बी.पी.एच. (का.) पी. 148, म.बं. (आनन्द), पृ. 21, बौ.बि.इ. (पाण्डेय), पृ. 46
2. क.(क.), पृ. 413, म.व. (आनन्द), पृ. 16-17, प. प. अ. 2 पृ. 155
3. म.व. (आनन्द), पृ. 21. ई.एच.बी. 5 पृ. 225
4. म.व. (आनन्द), पृ. 21

तक संघ ने विवाद को सौ वर्ष हो गए थें और तृतीय संगीति के समय अठारह निकाय पूर्ण अस्तित्व में आ गए थें।[5]

कथावत्थु की अट्ठकथा के अनुसार तो यह माना जा सकता है कि अशोक के शासन काल में अमर है निकाय विद्यमान थे। और वे सभी सौगत परम्परा के है। अन्तर्गत थे, क्योंकि अशोक इस सबकी व्यवस्था श्रद्धा पूर्वक करता था।[6]

इस सब विभाजन का कोई दार्शनिक आधार ना होकर सैद्धान्तिक आचार गत अभयन्तर ही था! जिसमें सबसे बड़ी समस्या यह थी, कि भगवान बुद्ध के मूल कथन का कौन सही रूप में कहता है, क्योंकि असंख्य अनुयायी अपनी-अपनी दृष्टि से अपने-अपने कथन और ग्रन्थों का भगवान के मूल वचन कहने का दावा करते थे।[7] उदाहरण के रूप में स्थविर वादियों से सर्वारित वादियों का इसीलिए विच्छेद हुआ था! क्योंकि स्थविर वादी निकाय सूत्रों को ही बुद्ध बचन मानते थे, जबकि सर्वास्ति वादी अभिधर्म को पिटक में सर्वश्रेष्ठ रूप में स्वीकार करते थें।[8] किन्तु वार्टसन ने यह लिखा है कि पहली दूसरी दर्शनीय में कनिष्क ने सवास्तिवादियों का समर्थन किया था और उसी समय उन्होंने अपने प्रमुख ग्रन्थ अभिधर्म महाविभाष की रचना की थी।[9] कीथ का यही का यही कहना है कि विभाषाकार ही वैभाषिक खूवादियों के नाम से बौद्ध धर्म में प्रसिद्ध हुए और सर्वास्ति वादियों तथा वैभाषिकों ने सौत्रान्तिको के विरूद्ध यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि आम धर्म और विभाषा ही बुद्ध वचन के अनुरूप है[10]। इसलिये वैभाषिकों को कभी कभी वैभाषिक

---

5. भा.बौ.इ. (लामा), पृ. 36
6. प.प. अ. 2 पृ. 7
7. B.ph.(Keith) p. 160
8. बौ.झ.वि.द्ध. (पाण्डेय पृ. 262, .H.I.L(Winta 4 Nitz) पृ. 5
9. Y.T. (Watters)9. P.270-278
10. बु. फि. (कीथ), पृ. 155

सर्वास्ति वादी भी कह दिया जाता है[11]। किन्तु दार्शनिक तत्व समीक्षण की दृष्टि से वैभाषिको ने विभाषा को ही अपना मूल ग्रन्थ माना तथा बाद में इस ग्रन्थ के अधिक महत्वशील माने जाने के कारण इनका नाम वैभाषिकपड़ा स्फुटार्था में ''विभाषया दीव्यत्ति चरन्ति बा वैभाषिका, विभाषां व विदन्ति वैभाषिका:[12]। कहना यही संकेत करता है कि इन वैभाषिक भी स्थान भेद से दो प्रकार से सम्बोधन किया जाना लगा जिनमे से काशमीर क्षेत्र के वैभाषिक काश्मीर वैभाषिक कहलाये और मान्थारा क्षेत्र के वैभाषिक पाश्चात्य-वैभाषिक कह लाए इन पाश्चात्यों में भी एक अवान्तर भेद थे और मृद् तथा मध्य वैभाषिकों के नाम से ज्ञात था[13]।

तारानाथ धर्मन्नात, घोषक, वसुमित्र एवं बुद्ध देव को इस निकाय के प्रमुख आचार्यो के रूप में उल्लिखित करते है। आर्चाय नरेन्द्र देव ने इन चार आचार्यो के साथ भदन्त का नाम भी जोड़ दिया है[14]।

विनय पिटक और सूत्र पिटक में पंच स्कन्धों के रूप में तथा आयतन और धातुओं के रूप में जिस प्रकार पदार्थ को विभाजित कर उसे अनित्य धर्मी बताया गया था। अभिधर्म को प्रयण मानकर और उसके आधार पर वस्तु विवेचना की दृष्टि रखकर वैभाषिकों ने पंच स्कन्धों आयतनों, धातुओं के साथ में पदार्थ विभाग का विश्लेषण करते हुए भी चिन्त एवं चैतरित धर्मो को अधिक विस्तार पूर्वक विश्लेषित किया है और इन्हें लौकिकाग्र धर्म कहा है- चिन्त चैतसिकधर्मा एवं भवन्त्यन्येषु. लौकिकेषु, धर्मेषु, बरा: प्रकुष्टा: ज्येष्ठ: प्रधाना उत्तरा: परमाइत्यामिमीयते लोकिकाग्रन्थम् इति:[15]

---

11. बौ.ध.वि.दू.(पाण्डेय) पृ. 263, स.द.स पृ. सं. (शर्मा), पृ.94-95
12. स.द.स पृ. सं. (शर्मा), पृ.94-95
13. बौ.ध.वि.दू.(पाण्डेय) पृ. 263, बौ.द.(आचार्य) पृ. 311
14. बौ.द. (आर्चाय) पृ. 311
15. सा.प्र.पृ. 2

बौद्ध मत के अनुसार जबकि स्व लक्षणता अथवा स्वभाव लक्षणता ही धर्म लक्षण है[16]। तब स्कन्ध, आयतन, धातु चिन्त चैतसादिक धर्मो को संस्कृत धर्मो की श्रेणी में रखा जाता है। क्योंकि इन धर्मो का संस्कृतत्व जाति, स्थिति जरा औरा अनित्यता से सिद्ध है। जबकि असंस्कृत धर्मो की संस्कृत धर्मो से इसलिये पृथक कहा गया है क्योंकि असंस्कृत, धर्मो की जाति स्थिति जरा और नित्यता सिद्ध नहीं होती असंस्कृत धर्माणां न सन्ति जाति स्थिति जराऽ नित्यता:[17]। अभिधर्मा मृत में संस्कृत और असंस्कृत धर्मो की गणना करते हुए स्कन्ध, आयतन और धातु के रूप में विभाग कर पंच स्कन्धों को सास्वत स्कन्ध और अनास्तव, स्कन्धों के रूप में कह कर सास्वत स्कन्ध ही उपादान स्कन्ध की संज्ञा पाते है। यह कहा गया है, क्योंकि आसृव क्लेश है। और चिन्त की निरन्तरता से संसार के पतन तथा हेतु से क्लेश आसव कहे जाते है[18]। इसी तरह चक्षु रूपादि के संयोजन से उत्पन्न विज्ञान के साथ संगणना करके द्वादशायतन तथा अष्टदश धर्मो धातुओं का कथन अभिधर्मामृत करता है। और इनका अष्टाद्वश धर्मो में काम, वाक्, कर्म वेदना, संज्ञा, संस्कार स्कन्ध संस्कृत धर्म के नाम से परिगणित है। जबकि प्रति संख्या निरोध, अप्रति संख्या निरोध और प्रकाश असंस्कृत धर्म है[19]। आर्य काव्यायनी पुत्र ज्ञान प्रस्थान सूत्र में 22 इन्द्रियों, 18 धातुओं, 12 आयतन तथा पंच स्कन्ध की गणना करते है और फिर इन संस्कृत धर्मो का रूपी है, अरूपी, सनिदर्शन, अनिदर्शनि सप्रतिद्य अप्रितिद्य, सास्वत, अनास्वत, तथा संस्कृत असंस्कृत धर्मो के रूप में भेदोप भेदकर 42 प्रकार से उनका निदर्शन करते ह[20]।

---

16. स्फु., पृ. 12-13, ए.जी.पी., 60
17. ज्ञा.प्र. 1, पृ. 44-45
18. ए.जी.पी. 52
19. वही पृ. 54-59
20. ज्ञा.प्रा. 1 पृ. 46-47

जब शास्त्रकार धर्मा के अस्तित्व का व्याख्यान करते है, तो उसक कसौटी वे अतीत, वर्तमान और भविष्य काल की खूबियों को मानते है। धर्म, जाति स्थिति जरा और अनित्यता स्वभावी इसलिए अतीत अनागत और वर्तमान काल में वे इन स्वभावों से युक्त करहते है, केवल असंस्कृत धर्मो को छोड़कर वस्तुतः जाति और स्थिति जरा और अनित्यता को एक ही क्षण में संयोजित करते हुए शास्त्रकार ने यह कहा है कि एक ही क्षण में धर्म का उत्पाद भी होता है निरोध भी होता है। स्थिति और अन्यथात्न भी प्रक्षप्त होती है- ''मथाह भगवान-संति त्रीणि संस्कृतस्य संस्कृत लक्षणानि। (एकस्मिन्क्षणे) संस्कृतस्योत्पादोऽपि प्रक्षाज्ञाते। निरोधोऽपि (प्रक्षायते)। स्थित्यन्य था त्वमापि प्रक्षायते[21]।

वैभाषिकों में वसुबन्धु का और उनकी कृति अभिधर्म कोश को बहुत आदर है। स्वयम् वक्षुबन्धु का भी यही कहना है कि '' काश्मीर वैभाषिक नीति सिद्धः प्रत्यों ममालं कथितोडमिधर्माः[22]। यद्यपि वे पूर्ण वैभाषिक होते हुये भी सौभान्तिकों की ओर अधिक झुकाव रखते थे और बाद में सम्भवतः इसमें दो अपने अग्रज असंग की प्रेरणा से महायान सिद्धान्त स्वीकार कर लिया था[23]। तथापि अभिधर्म कोश में वैभाषिक नभ का निरूपण उनकी वैभाशिक सिद्धान्तों के स्थान की रूचि का प्रदर्शन करती है।

अभिधर्म कोशकार दार्शनिक भाषा शैली में समस्त पदार्थ समूह को 'धर्म' नाम से अभिहित कर ' एव सामान्य लक्षण धारणाद्धर्माः' धर्म की परिभाषा करते है। क्योंकि धर्म पुष्पों के समान व्यवकरण है। और उन्हें क्लेशों के उपशम के लिये चुनते है 'धर्म प्रवचयः क्लेशोप शयों पायों नात्यो धर्म इति[24]।

---

21. ज्ञा.प्रा. 1 पृ. 46-47
22. अ.को. पृ. 459
23. वौ.द. (आचार्य), पृ0 168-169, Y.T. (Wathers), P 210-211, H.T.I. (Water mits)
24. स्फु. पृ. 12-13, 42

इन धर्मो का विशेष विभाग प्रदर्शित करते हुए इन्हें संस्कृत धर्म और असंस्कृत धर्म के रूप कहा गया है। इनमें से जो प्रत्ययों से अन्योन्य भाव से एक दूसरे की अनेक्षाकर अपतन होते है, वे संस्कृत धर्म है उनकी उत्पन्ति में ईश्वरादि कारण नहीं है अपितु उनका क्रम आदि है[25] "सर्वधर्मा हि कारण हेतु स्वभावों:[26] कहकर अभिधर्म दीप भी इसी कथन की पुष्टि करती है और सभी धर्मो को कारण हेतु जनित स्वभाव व लक्षण वाली कहती है।

अभिधर्म कोशिकार इन संस्कृत धर्मो को रूपादि पंच स्कन्ध के रूप में गिनाकर उनकी अनेक संज्ञाये कहते है। वे संस्कृत धर्मो को अध्व, कथावस्तु सनि: स्वर और सवस्तुक नाम से अभिहित करते है[27]। अध्व कहने से उनका यह तात्पर्य है, जैसाकि स्फुटार्थकार ने कहा है कि इसका अर्थ अतीत, वर्तमान और अनागत काल है क्योंकि ग्राभ की ओर जाते हुये मार्ग को जैसे कहते है कि यह मार्ग ग्राम को गया, यह मार्ग ग्राम को जाता है, यह मार्ग ग्राम को जायेगा और उसका भाव अतीत, वर्तमान तथा भाविकालिक निकलता है उसी तरह यहां संस्कृत धर्मो के अध्व संज्ञा होने से उनका अतीत अनागत और वर्तमान कालिक होना प्रतीत होता है। सूत्रोन्क्ता नामप्य ध्वादीनां स्कन्ध पर्याप रूपाणामिह वचनम्। गत गच्छ: द मिष्प दा वादिति् इसी तरह संस्कृत धर्म की कथा की वस्तु होने से कथावस्तु इसमें नि:सरण होने से सनि:सार तथा प्रत्यय जनित होने से सबस्तुक है। यही स्फुटार्था में असंस्कृत धर्मो को कथावस्तु कहने के इसलिए खण्डन किया गया है क्योंकि असंस्कृत धर्म हेतु प्रत्यय जन्म नहीं है। वे हेतु प्रत्यय की कथा न होने से कथा वस्तुक नहीं कहे जा सकते[28]। इन संस्कृत धर्मो का एक लक्षण और किया गया है। जिसके अनुसार जाति,

---

25. अ.वि., पृ. 43
26. स्फु., पृ. 2?-24
27. अ.को. 2/45
28. अङ्ग. 1(क.) 139-140

जरा, स्थिति और अनित्यता का स्वभाव इनका स्वरूप स्वभाव है- लक्षणानि पुनजातिजर्रा स्थितिर नित्यता[29]। अभिधर्मदीप में भी संस्कृत धर्मो के इन चार स्वभावों का आख्यान किया गया है। किन्तु अनित्यता 'के स्थान पर नाश:' शब्द का प्रयोग है। वहां की मूलकारिका का अंश 'जाति: स्थितिर्जराणा (ना) श: संस्कृता - ङ्क चष्टतुमी' के रूप में संस्कृत धर्मो का स्वभाव जाति, स्थिति, जरा और नाश के रूप में कहता है। साथ ही अङ्गुन्तर निकाय में संस्कृत धर्मो के उत्पाद कम और स्थिति लक्षण के लिये भाषा द्वारा यह कहने का प्रयत्न किया गया है कि भागवान ने अभिधर्म में संस्कृत धर्मो के चार ही लक्षण कहे है इन्हीं चार को उन्होंने सूत्र में स्थिति और अन्यथात्व को एक ही मानकर तीन स्वभावों का आख्यान किया है।[30] कुछ अभय गिरिवासी नामक ऐसे स्थविरवादी भी प्राचीन आचार्य थें जिन्होंने चिन्त की स्थिति क्षण को नहीं स्वीकार किया है।[31]

संस्कृत धर्मो के विपरीत मार्ग-सत्य आकाश प्रति संख्या निरोध तथा अप्रति संख्या निरोध को असंस्कृत धर्म कहा गया है अभिधर्म दी आठ पदार्थ कहती है - व्याख्याता अष्टौ पदार्था:- संस्कृता: पञ्च, त्रयरचा संस्कृत एतावच्चौतर्त्सव मदुत संस्कृत चा संस्कृत चेति।[32]

उपरिलिखित कथन में संस्कृत धर्मो के स्वरूप का लक्षण किया गया तो यह भी कहा गया कि जब संस्कृत धर्म असाव युक्त होते हैं, तब वे उपादान स्कन्ध कहे जाते है जबकि अनास्रव संस्कृत धर्म उपादान स्कन्ध कहत्ता कर केवल स्कन्ध संज्ञा ही से अभिहित होते हैं। जो उपादान स्कन्ध है वे सरण, दुख, समुदय और

---

29. अ.वि., पृ. 104
30. A.M.T. II, P, 140
31. बौ, द. (आचार्य) पृ. 321, अ.वि.पृ.4
32. अ.को. 6/2, ए.जी.पी. 52

लोक संज्ञक होते है।[33]

समस्त पदार्थों को स्कन्ध, आयतन, धातु के विभाजन में विभाजित कर कहते का यही तात्पर्य है कि स्कन्ध राशि है, आयतन उत्पत्ति द्वार तथा धातु गोत्र है। मोह, इन्द्रिय और रूचि की मिधा भेद-स्थिति के कारण ही तीन प्रकार से यह स्कन्ध देखना है।

स्कन्ध, आयतन, धातु के रूप में राशि अभ्य द्वार और गोत्र के आख्यान का विशेष व्याख्यान अन्य स्थानों पर इस प्रकार उपलब्ध है जिससे स्कन्ध राशि है। और उसमें अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न, आध्यात्मिक बाहय, सूक्ष्म, हीन, प्रणीत रूप स्कन्ध होता है। इसी अन्य स्कन्धों की भी योजना है। आयतन का अर्ध अभि धर्म कोशकार के ही अनुसार चित्र चेन्त का आय द्वार है। चिन्त चैन्ताः सहावश्यंसर्व- सर्व संस्कृत लक्षणे अभिधर्म दीप विभाषा में भी चित चैतसिकार ज्यमायमेताति तन्वन्ताव्यायत नानि। आयतन का लक्षण दिया गया है।[34] विभाषा में भी आयतन शब्द के अर्थ में भिन्न-भिन्न मद दिए गए हैं। विसुद्धिभग्ग भी आयतन शब्द का व्याख्यान करता है और अविसेसतो पन आयतनतो, आयानं तननतो, आयतस्स च नयतनो आयतनं ति दट्टबबं शब्दों में आयतन पर विचार करता है इसी प्रकार गोत्रार्थो धात्वयं धातु का अर्थ गोत्र किया गया है और उसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जैसे एक पर्वत में लौह, ताम्र, स्वर्ण आदि गोत्र की धातुओं को धातु कहा जाता है। इसी प्रकार एक सत्ता नता के आश्रम में अठारह गोत्र अठारह धातु कही जाती है। इसमें असंस्कृत धर्म धातु नहीं होते है।[35]

---

33. सं.नि. 2(क.) पृ. 408-409, सु. (नि.) 1(क.) पृ. 43
34. अ.को. 2/23 , अ.कि. पृ. 5
35. अ.चि. पृ. 5

यही कारण है कि पदार्थ समूह को रूप स्कन्ध में मोहित हुए के लिए आयतन के रूप में, चिन्त चतैसिकों में संमोहित हुए के लिए स्कन्धों के रूप में, रूप और चित्त में समोहित हुए के लिए धातु के रूप में देशना की गई है। इसी भाँति से तीक्ष्ण, मध्य और मृदु, इन्द्रिय वालों के लिए यह विविध पदार्थ-देशना है।

अन्य रीति के अनुसार जब सभी धर्मो का संग्रह, पंच वस्तुक नय से किया जाता है। तो इस पंच वस्तुक में रूप, चिन्त, चैत सित्रनय अथवा चिन्त संप्रयुक्त धर्म, चिन्त विप्रयुक्त या असंस्कृत धर्मो की गणना की गई।[36] इसमें रूपी धर्मो के सहोत्पाद का विचार करते हुए कोशकार ने अशब्द अनिन्द्रय परमाणु को अष्टहन्यक, कामेन्द्रिय सहित नव द्रव्यक तथा अपरेन्द्रिय होने पर दश द्रव्यक माना है। यहाँ परमाणु शब्द से वैभाषिकों को सर्व सूक्ष्म परमाणु इष्ट है। उपरलिखित पंच वस्तुक विभाजन में चिन्त और चिन्त विप्रयुक्त संस्कारों का अवश्य सहोत्पाद होता है।[37] अर्थात्, ये संस्कृत लक्षण, जाति, स्थिति, जरा और अनित्यता है।बच्चों की संस्कृत लक्षण, जाति, स्थिति जरा और अनित्यता हैं।

धर्मो के उत्पाद में अन्य किसी ईश्वरादि को कारण न मानकर वैभाषिक नम में हेतु प्रत्ययों के सहभाग से वस्तुत्पाद का क्रम स्वीकार किया गया है, और इस तरह से कारण-हेतु सहभू-हेतु सभाग हेतु, सम्प्रभुक्त क हेतु, सर्वभग-हेतु और विपाक-हेतु के रूप में हेतुओं का विभाग किया गया है ये सभी स्वत: और अन्य सभी धर्मो के कारण हेतु है। इसी तरह से वैभाषिकों ने हेतु प्रत्ययता, समानतर-प्रत्ययता आलम्वन-प्रत्ययता और अधि पति प्रत्ययता के रूप में चार प्रत्ययों

---

36. अ.वि. पृ. 65

37. चिन्त चैन्ता: सहावश्यं सर्व संस्कृत लक्षणै: (अ.को.) 2/23 अ.वि. पृ. 67

का कथन किया है। सभी धर्म अपने-अपने हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न होते है। धोषक ने अभिधर्म मृत में इन्ही हेतु, प्रत्ययों का आख्यान कर 'सर्वधर्मा अन्योन्यसहायाः। चिन्तं सर्व चैतसिक धर्म हेतुः। सर्वचैतसिक धर्माश्चिन्तहेतवः। सहोत्पादानि चत्वासे महाभूतानि सहभू हेतु कानि कहा है।[38]

सर्व धर्मो का कथन करके इनकी नित्यता, अनित्यता और कर्ता भोक्का की स्थिति का व्याख्यान करते हुये अभिधर्म दीपर कार कहते है कि 'तदिदं प्रत्युक्त वस्तु हेतु, प्रत्मयात्प्रती व्योत्पन्नं परमार्थतो विद्यते प्रत्यात्मवेदनीयित्वात् त दा लम्बनाश्च रागादयः द्रव्यतः सन्तीति।[39]

इस सन्दर्भ में अभिधर्मदीप में धर्म ज्ञात के भावान्यघात्व का जिसके अनुसार जब धर्म एक अध्व से दूसरे अध्व में गमन करता है तब उसके भाव का अन्यघात्व होता है। द्रव्यवत्व का नहीं वर्णन किया गया है। भदन्त घोषक के पक्ष का भी जिनका पक्ष लक्षणान्यपात्व है और जिनके अनुसार अतीत धर्म अतीत लक्षण युक्त होता है किन्तु वर्तमान तथा आगतकाल में अतियुक्त होता है, जब अनागत धर्म अनागत लक्षण युक्त होता हैं। तब अन्य दो कालों के लक्षण से अवियुक्त होता है और जब धर्म वर्तमान लक्षण युक्त होता है तब अन्य दो कालों से अवियुक्त होता है। का कथन किया गया है। इसी तरह वसु भिन्न के अवस्थान्यत्व पक्ष का साधुत्व दिखाकर यह कहा गया है कि अध्व में प्रवलभम धर्म अवस्था भेद से अन्यथा अन्यथा रूप का निर्देश करता है जैसे एक रेखा सौ के स्थल पर सौ, दश के स्थान पर दश के बोध कराती है - "स खल्वाह - धर्मो द्रध्व प्रवर्तभानों द्रव स्थामवस्थां,

38. ए.जी. पृ. 61

39. अ.वि. पृ. 256

प्राख्य द्रन्यघाद दस्तीति निर्दिश्यते'[40] इसी अभिधर्म दीप में बुद्ध देव के अन्यथान्य थात्व पक्ष का भी प्रतिरोपण है। इस पक्ष के अनुसार अध्व अपेक्षा वश ही व्यवस्थित होते है। कोई भी धर्म अध्व में प्रजर्तित हो अपेक्षा वश संज्ञास्तर ग्रहण करता है। अर्थात् धर्म पूर्व अमरकाल की अपेक्षा से ही अतीत् और वर्तमान संज्ञा पाता है।[41]

इन सभी यथा रूपता का आलोड़न कर वैभाषिक अभिधर्म दीपकार वसुमित्र की धारणा को ही बुद्ध वचन के अनुसार मानते है। क्योंकि जब धर्म में क्रिया उपान्त नहीं होती तब वह अनागत होता है। कि जब धर्म विभाजन होता है तब प्रत्युत्पन्न होता हैं, और जब क्रियावान् होता है तत वह अतीत संज्ञक होता है।

इसीलिए अभिधर्म कोश की व्याख्या में भगवान बुद्ध उद्‌धृत करते हुए यह कहा गया कि "अतीतं चेद भिक्षा को एवं नाभविष्यन्न श्रुतवानार्यश्राव को छतीतं रूपे ऽनपेक्षो ऽभविष्यत्। यस्मान्त दर्प स्त्यतीतं रूपं ......'[42]

त्रिपटक में राध को उपदेश देते हुए भगवान् ने स्वयं त्रिकालिक रूप में अनपेक्ष होने के लिए कहा था पदार्थ सत्ता की त्रिकालिक अस्तित्व स्थिति के लिए वसु वन्धु ने अन्य तर्क इस तरह दिए है, जिसके आधार पर वे कहते है कि दो प्रत्ययों से विज्ञान की उत्पत्ति होती है। चक्षु विज्ञान से और मनोविज्ञान से यदि अतीत, अनागत, पदार्थ की अस्तित्वशीलता का अभाव होता तो आलम्बन के अभाव में विज्ञान भी उत्पन्न नहीं होगा, इसलिए पदार्थ सत्ता का अतीत अनागत, वर्तमान कालिक, अस्तित्व सिद्ध होता है।[43] यदि विषय का ही अभाव होता तो विज्ञान ही

---

40. अ.वि. पृ. 260
41. वही पृ. 260 अ.को. 5/26
42. स्फु. 5/25
43. अ.को. भा.पृ. 595

तस्त्र हो सकता इसी तरह शुभा शुभ कर्म फल के उत्पाद क्रम भी व्यर्थ होता। यही कारण है कि अस्ति, आसीत् और अनागत वस्तु की सत्ता के स्थापक ही वैभाषिक है। सर्वस्तिवादी है क्योंकि 'मे हि सर्वस्तीति वदन्ति अतीत मनागतं प्रत्युत्पन्नं च तो सर्वास्तिवादाः'[44] सिद्धि के इसीलिए धर्मो के अतीत अनागत और वर्तमान कालिक अस्तित्व की प्रसंङ्‌ में वे यह कहते है कि जब धर्म किया नहीं करता तब अनागत अनागत अवस्था से ज्ञात होता है। जब वह किया करता है तब वर्तमान कालिक और जब क्रिया निरूद्ध हो जाता है। तब अतीत अवस्था की संज्ञा से युक्त होता है वस्तुतः यह धर्म की अवस्थान्तरता ही है द्रव्यन्तरता नहीं। किन्तु पदार्थ की नित्यता अथवा उसकी नित्य क्रिया कारिता का यहॉ इसलिए प्रश्न नहीं उठाना चाहिए, क्योंकि वस्तु उत्पत्ति का क्रम प्रतीत्व समुत्पन्न क्रम है और इसीलिए वस्तु की क्रियाशीलता कमी होती है से यही कारण है वस्तु की क्रिया करती का मिकालिक कही जाती है-

'मेन कदाचित कारिमं करोति कदाचिन्तेति। प्रत्ययानाम साम ग्रयमिति चेत् ।न। नित्पम स्तित्वाम्मुभ्रगमात्। युच्च तत् कारित्रमतीता नागतं प्रत्युत्पन्नं चोच्पते।[45]

इन सभी हेतुओं से वस्तु की नितान्त नित्यता का आख्यान भी नहीं किया जा सकता क्योंकि उससे जाति, स्थिति, जरा और अनित्यता की सिद्ध नहीं होगी तथा नितान्त अनित्यता का कथन इसलिए नहीं करना चाहिए क्योंकि धर्मो का अपना स्वभाव और भाव होता है। स्वभाव के अतिरिक्त कोई भाव नही है तथा हेतु-प्रत्यय जन्म होने के कारण उन्हे ईश्वरादि द्वारा निर्मित भी नहीं कहा जा सकता।

---

44. वही. पृ. 295-296

45. अ.को. भा.पृ. 297

स्वभावः सर्वदा चरित्र भावों नित्पश्चनेष्यते। नच स्वभावद् भावोडन्यों व्यक्त भी श्वर चेष्टितम्[46] उपरलिखित समस्त साक्ष्यों और तथ्यों के आधार पर यह कहना यहाँ सभाव हो सकता है कि वैभाषिक जिनकी वस्तु स्वरूप-प्रतिपादन की दृष्टि और उसकी क्षणिक सत्ता का स्थापन जो जाति, स्थिति जरा और अनित्या के रूप में व्यक्त होती है। मिकालिक रूप से सर्वास्तित्व आख्यान करती है। वस्तु जो क्षण, प्रतिक्षण, उत्पन्न और विनष्ट होती है। जिसका समस्त उत्पाद-व्यय हेतु प्रत्ययों के आधार पर आधारित है एक ही क्षण में जाति, स्थिति, जरा और अनित्यता, लक्षण से युक्त अपनी क्रिया कारिता से अतीत, अनागत और भविष्यत कालिक अवस्था को अन्योन्याश्रम से व्यक्त करती है। उसका यही स्वरूप और उसकी क्रिया कारिता तथा हेतु-प्रत्यय जन्मता वस्तु को वस्तु के नितान्त सत् तथा असत रूप से पृथक करती है।

फलस्वरूप वैभाषिकों की इस दृष्टि से उपनिषदों के न केवल जगत नित्मत्व के इस विचार का खण्डन होता है, जिसमें उपनिषद् "ऊर्ध्व मूलोंऽ वाक्शाख एषोड् श्वत्वयः सनातनः[47] अनादि होने से अश्वत्प्थ वक्ष (संसार) को सनातन मानती है। अपितु उपनिषदों के इस विचार का भी खण्डन हुआ कि संसार की उत्पत्ति में ब्रहम परमेश्वरादि का कारणत्व है,[48] क्योंकि वैभाषिकों की दृष्टि हेतु प्रत्ययोंत्पन्न वस्तु, स्वभाव की पक्ष पातिनी है।

---

46. वही, पृ. 298
47. कठ, (गिरी.) पृ. 33
48. प्रश्न (गिरी.) पृ. 52, मुण्ड (गिरी.) पृ. 55

(ख) सौत्रान्तिक और अनित्यता

भगवान वुद्ध के उपदेशों और उनकी दृष्टि की तर्क से निर्णीत कर ही न यानियों ने अपने-अपने मत स्थापित किये थे जिनमें से स्थविरवादी, वैभाषिक और सौत्रान्तिक प्रमुख रूप से अपने दर्शन को सुरक्षित रख सके और अपने-अपने विश्वास तथा तर्क से वुद्ध विचारों का स्वरूप उद्घाटित करते रहे। इनमें से सौत्रान्तिक मत को और उसकी दृष्टि को जानने का प्रमुख साधन यशोमित्र की स्फुटार्था ही है जो सूत्रों को मानने के कारण इन्हें सौत्रान्तिक कहती है।[1] श्वांच्वांग ने सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में कुमार लाभ (कुमारलब्ध) का नाम बताया।[2] लामा तारानाप्य सौभान्तिकों के आदि आचार्य के रूप में महा भरत्न स्घविर और श्री लाभ का नाम लेते है।[3] वे यह भी मानते है कि दार्ष्टान्तिक ताम्रशटीय से पृथक हुआ सैत्रान्तिक वादी ही है।[4] शारि पुत्र पृच्छा सूत्र और दीपयंश सौत्रान्तिकों और संक्रान्ति वादियों को पृथक मानते है।[5]

सौत्रान्तिक, जो हीन यान का एक प्रमुख्य मत है प्रायः जगत और पदार्थो के स्वरूप के विषय में विचार करता हुआ समस्त पदार्थ समूह को धर्म के रूप में अभिहित कर स्वसामान्य लक्षण धारणाद्धर्माः कह कर धर्म का लक्षण करता है।[6] और यह मानता है कि संस्कृत और अंस्कृत धर्मो में से धर्मप्रविचय ही क्लेशोपशमन का उपाय है क्योंकि रूपादि हेतु प्रत्यय जनित होने के कारण संस्कृत धर्म है।[7] और ये धर्म अनित्य और दु:खाकर हैं - 'रूपं वेदनानित्यं दु:ख मित्येवमाकारेण नास्ति क्लेशोमशमाम्युपायः अन्य इति' इसलिए दु:ख और क्लेश शमन का धर्म-प्रमिचय के

---

1. स्फु. पृ. 13
2. Y.T. (Walters) 1,2, पृ. 245, 286, 289
3. भा.बौ.इ.(लाभा), पृ. 35, 40
4. वही, पृ. 145
5. लो.वि.दू. (पण्डिल), पृ. 282
6. स्फु. पृ. 13
7. स्फु0 पृ. 13

अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है[8] और इस दृष्टि से जब सौत्रान्तिक इस संसार का आख्यान करते हैं, तो वे इसे संसरणशील, जन्म मरण परम्परा वाला, चंचल और पराश्रयी कहते हैं।

इसी दृष्टि से लोकाख्यान में भी लुज्यते प्रयुज्यते तस्माल्लोकाइति च भगवतैवोक्तम् लुज्यते विनश्यतीत्पयर्थः। सौत्रान्तिक में विनाश स्वभादी लोक का आख्यान किया है। भव की भी व्याख्या पञ्चोपादान स्वरूप में करके इसी दृष्टि को स्थापित किया गया है।[9]

वसुबन्ध ने अभिधर्म कोश में धर्मों का विभाग बताते हुये उन्हें सास्र व धर्म, संस्कृत और अनासव असंस्कृत धर्मों के रूप में कहा है।[10] सौत्रान्तिक दृष्टि से यशोभिन्न ने स्फुटार्चा में इसका स्पष्टीकरण करते हुय यह कहा कि मार्ग सत्य को छोड़कर सभी संस्कृत धर्म आसवों के प्रयोग से सासव संस्कृत धर्म है।[11] इसी तरह सौत्रान्तिक यह कहते है कि प्रति संख्या निरोध अप्रति संख्या निरोध और आकाश अनासव असंस्कृत धर्म हैं क्योंकि इनमें आसव स्थिति नहीं करते हैं। और ये असंस्कृत धर्म स्वभावतः संस्कृत धर्मों के ग्रहण से अनुवन्ति धर्मक है - संस्कृत ग्रहणम संस्कृत निरासार्थम् असंस्कृतमपि हि स्वभाव तोदनुत्पत्ति धर्मकम्।[12] इसका कारण देते हुए यसोमित्र कहते हे कि जहाँ संस्कृत धर्मों का अध्व, कथावस्तु और सवंस्तुक कहा गया है वहीं असंस्कृत धर्मो को कथा के विषय हेतु प्रत्यय से उत्पन्न न होने से कथावस्तु नहीं कहा जा सकता।

---

8. वही, पृ. 11
9. वही, पृ. 6, 25, 26
10. अ.को. 1/4, 5
11. स्फु. पृ. 14
12. वही, पृ. 16-21

जिसमें कार्य पहले रहते हैं और बाद में उत्पन्न होते हैं, वह वस्तु है। वस्तु के इस लक्षण से असंस्कृत धर्मों को वस्तु नहीं कहा जा सकता। अस्वाभावी और अवस्तुक होने से असंस्कृत धर्म वस्तु नहीं हैं।[13] ये तो केवल प्रज्ञप्पित:सत् हैं, वस्तु रूप में सत्तात्मक नहीं है। सवस्तुका: सस्वभावा: संस्कृता: असंस्कृतास्त्ववस्तुका:। प्रज्ञप्ति सत्वादिति। हेतु प्रत्यय क्योंकि कथावस्तु हो सकते हैं, इसलिए असंस्कृत धर्म हेतु प्रत्यय जन्म न होने से कथावस्तु नहीं हो सकते हैं। इसीलिए स्फुटार्थाकार स्कन्ध समुदाय को हेतु भूल कहते हैं - वे समुदाय शब्द का व्याख्यान करते हुए हेतुभूता: स्कन्धा: समुदय: फल भूता: स्कन्धा दु:खमिति वर्णयन्ति स्कन्धों को हेतु भूत समुदय के रूप में बताते हैं।[14] वसुबन्धु ने संस्कृत धर्मो को जब अध्व शब्द से आख्यात किया तो टीकाकार यशो मित्र भगवान् बुद्ध की भावना की अनुकूलता का समर्प्यन करते हुए अध्व शब्द के व्याख्यान में यह प्रति पादन करने लगे कि अनित्यता से जिनका भक्षण होता है वे अध्व हैं। भगवान् बुद्ध ने अनित्यता से भक्षित होने वाले धर्म संस्कृत धर्म ही कहे हैं - अथन्तेऽनित्यतया भक्ष्यन्त इत्यध्वान इति संस्कृता एवाध्वशब्दे न भगवता देशिता:।[15]

इस प्रकार से भगवान बुद्ध की देशना के सम्बन्ध में यशोमित्र ने यह कहा कि भगवान की देशना, स्कन्ध, आयतन, धातु के रूप में तीन प्रकार की है जो स्कन्धों के रूप में धर्म उपदेशित हैं, वही धर्म आयतनों और धातुओं के रूप में देशित हैं। असंस्कृत धर्म ही केवल अतिरिक्त रूप से देशित है।[15]

---

13. स्फु. पृ. 23-24
14. वही, पृ. 25
15. वही, पृ. 23

स्फुटार्थाकार यशोमित्र वस्तु के वस्तुत्व का अतीत, अनागत काल में अस्तित्व का निषेध करता हुआ यह कहता है कि भगवान् ने जो रूप को अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्नता की दृष्टि से कहा है वह अनित्यता से निरूद्ध होने के कारण एक काल का अथवा एक क्षण का ही ज्ञापन है। वे कहते हैं कि अनित्यता का वस्तु के क्षण निरोध के कथन के रूप में इसीलिए ग्रहण किया गया है जिससे उसके अन्य किसी काल के निरोध का ग्रहण न हो, क्योंकि संस्कृत लक्षण के कारण वस्तु नित्यता स्वभावी नहीं हो सकती। वह अनित्य और क्षण निरूद्ध ही हो सकती है। इसलिए वे लक्षण, निरोध, समापत्ति निरोध, उपपत्ति निरोध, प्रति संख्या निरोध, एवं अप्रतिसंख्या निरोध के रूप में निरोध का पञ्च लक्षण करते हैं तथा देवदत्त, यशदत्त और विष्णुमित्र के पिता तथा पुत्र के सम्बन्ध को अपेक्षा भेद से दिखाकर उस सम्बन्ध के अस्तित्व का त्रिकालिक खण्डन करते हैं और स्पष्ट तथा यह कहते है कि जो अतीत, अनागत, अस्तित्ववादी है वह सौत्रान्तिक नहीं है।[16]

धर्मों के संस्कृत लक्षण में जब वैभाषिकों ने जाति, स्थिति, जरा, और अनित्यता को संस्कृत लक्षण कहा तथा इन लक्षणों के विपरीत धर्म को असंस्कृत धर्म कहा और इन लक्षणों का व्याख्यान करते हुए यह बताया कि जाति धर्मो का उत्पाद करती है। स्थिति इनकी सीपना करती है, जरा उनका ह्रास करती है और अनित्यता उनका विनाश करती है।[17] सौत्रान्तिकों ने भगवान् के वचनों का आश्रय लेते हुए भी इन लक्षणों की व्याख्या अपने नम के अनुसार की और यह कहा कि जाति आदि का चक्षुरादि से प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसलिए उनका द्रव्यतः अस्तितव भी नहीं होता है। इनके अनुमान में भी कोई समर्थ अनुमान नही है। इसलिए उनका आगम भी द्रव्यतः

16. स्फु. पृ. 48-50

17. A.G.P. 60, अ.को. भा. पृ. 75

अस्तित्व शील नहीं है।

जात्यादयस्तु न चक्षुरिन्द्रियादि प्रत्यक्षा भवन्ति। न चैषामस्तित्वे समर्थमनु मानमस्ति। न चाप्यागमों द्रव्यतोऽस्तित्वे।[18] अपनी इस मान्यता का कारण देते हुए स्फुरार्थाकार कहता है कि भगवान् बुद्ध ने इस कथन का कि वस्तु का उत्पाद भी ज्ञात होता, व्यर्थ, स्थिति आदि का प्रज्ञान होता है[19] यह तात्पर्य नहीं है कि इसमें केवल अर्थ का ही प्रतिसरण होता हैं, व्यञ्जन का या द्रव्य का नहीं। बाल बुद्धि के लोग इस अर्थप्रतिसरण को भी द्रव्य प्रतिसरण के रूप में वैसे ही ज्ञात कर लेते हैं जैसे संस्कार प्रवाह में आत्मा और आत्मीय का ज्ञात करते हैं। संस्कृत धर्म और प्रतीत्य समुत्पन्नता एक दूसरे के पर्याय अर्थ हैं। प्रत्ययों के समूह से, प्रत्ययों के उन-उन, प्रत्ययों के हेतु से कृत ही संस्कृत पदार्थ हैं, प्रवाह प्रतीत्य समुत्पन्न नहीं हैं। इसलिए क्षण की उत्पत्ति को लेकर उत्पाद, व्यय स्थिति आदि की प्रज्ञप्तता की जाती है।

इस सम्बन्ध में सौत्रान्तिकों के पक्ष को और अधिक विस्तार देते हुये स्फुटार्थ में उदाहरण देकर यह कहा गया कि जैसे किसी कन्या के शुभ और अशुभ लक्षण उसके साधुत्व और असाधुत्व को व्यञ्जित करते हैं उसी प्रकार वस्तु के तीन लक्षण, उत्पाद स्थिति और व्यय वस्तु के अस्तित्व के साधक नहीं, केवल साधुत्व-असाधुत्व के लक्षण मात्र हीं हैं, क्योंकि संस्कृत का भी संस्कृत लक्षण नहीं किया जा सकता और इस तरह यह प्रश्न भी नहीं किया जा सकता कि ऐसा कहने से जात्यादि के प्रवाह की प्रज्ञप्ति कैसे होगी, क्योंकि जात्यादि का भी द्रव्य रूप से अस्तित्व नही है।[20] यह मत जो वस्तु को क्षणोत्पत्ति विनाश का संकेत करती हैं, वसु बन्धु को

---

18. स्फु., पृ. 97
19. अ.भा., पृ. 76
20. स्फु., पृ. 97-98

भी अभीष्ट प्रतीत होता है। उन्होंने अभिधर्म कोशा में वे कहते है कि क्षणिक धर्म का ही बिना स्थिति के व्यय होता है। क्योंकि - क्षणि कस्य हि धर्मस्य बिना स्थित्या व्ययो भवेत्।[21] और वैभाषिकों के नय का व्याख्यान करते हुए भी अपनी इस धारणा के समर्थन में तर्क देते हैं। वस्तु की क्षणिक सत्ता की स्थापना करते हुए कहते हैं कि प्रतिक्षण अमूत्वाभाव उत्पाद है, भूत्वा अभाव व्यय हैं, पूर्वक्षण का उत्तर-उत्तर क्षण के साथ अनुबन्ध स्थिति है। उनका (धर्मो का) अविसहत्य ही स्थिति अन्य यात्व है। और इस तरह वे यह मानते हैं कि संस्कृत धर्मो का क्षणिकत्व द्रव्यत्व की कल्पना के बिना भी युक्त है - 'प्रतिक्षणं चापि संस्कृत-स्यैतानि लक्षणानियुज्यन्ते विनाऽपि द्रव्यान्तर कल्पनया।[22] वस्तु के अभूत्वाभाव के सम्बन्ध में मज्झिम निकाय एवं किल ये धम्मा अहुत्वा सम्मोन्ति' जैसे वाहय यह प्रकट करते हैं, कि धर्म अभूत्वा भाव है[23] किन्तु मिलिन्द प्रश्न में इसका खण्डन किया गया है।[24]

स्फुटार्थाकार जब जाति, स्थिति, जरा अनित्यता का अपने मतानुसार धर्म के क्षणिकत्व में। अन्तर्भाव करता है तब वह यह कहता है कि प्रवाह का आदि उत्पाद जाति है, उसी धर्मक्षण प्रवाह की उपरति व्यय है सहश लक्षणों के अनुवृत्ति की प्रवर्तमानता ही स्थिति है। क्षणिक धर्म स्थिति के अनन्तर विनाशी है। यदि ऐसा माना गया तो स्फुटार्थकार का कहना है कि यह कल्पना भी व्यर्थ हैं क्योंकि धर्मो के विनाशी है यदि ऐसा माना गया तो स्फुटार्थकार का कहना है कि यह कल्पना भी व्यर्थ है क्योंकि धर्मो के विनाशी होने से स्थिति में भी विनश्यता भाव होगा ही क्षणिकता के कारण। अतएव प्रवाह ही स्थिति है, क्योंकि धर्म की प्रथक स्थिति की परिकल्पना व्यर्थ हो जायेगी।[25] इसी हेतु से वे संस्कृत धर्मो की लक्षणता का आख्यान

---

21. अ.को. भा. पृ. 77
22. अ.को. भा. पृ. 77
23. म.नि. पृ. 67
24. मि.प्र. पृ. 75
25. स्फु. पृ. 98

'संस्कृतम भूत्त्वा भवद् भूत्वा चाभ वल्लक्षय्माणं संस्कृत लक्षण मुच्यते। इन शब्दों में करते है[26] और अभूत्वा भवत् कहकर भूतकालिक सन्ता का निषेध करते हैं। इस सन्दर्भ में सौत्रान्तिक नम की स्थापना के लिए वैभाषिकों के धूम के ऊर्ध्वगमन के उदाहरण की भी वे व्याख्या करते हैं और यह स्थापित करते हैं कि निरन्तर धूम की उत्पाद्य मानता ही उसका ऊर्ध्वगमन हैं। न कि धूम का ऊर्ध्वगमन भिन्न सा प्रतीत होता है। धूम से अन्य उसका ऊर्ध्वगमन और कुछ नहीं है।

जहाँ भूतकालिक द्रव्य के अस्तित्व का खण्डन सौत्रान्तिक को अभीष्ट है वहीं उसे अनागत कालिक द्रव्य के अस्तित्व में भी विश्वास नहीं है। वह यह कहते है। कि अनागत कालिक द्रव्य का द्रव्यत: अस्तित्व नहीं है। यदि अनागत कालिक पदार्थ का अस्तित्व होता तो अनागत काल में उसकी क्रिया कारिता भी दिखाई देती किन्तु ऐसा होता नहीं है। यदि द्रव्य की अनागत कालिक सत्ता की क्रिया कारिता को स्वीकार किया जायेगा तो फिर वह अनागत कालिक कैसे सिद्ध हो सकेगा। वस्तु को बिना अनागत कालिक क्रिया कारिता से यदि अनगत वस्तु के द्रव्यत: अस्तित्व को माना जाता है तो वह विरूद्ध सिद्धान्त ही हो सकता है।

वस्तु की अनित्यता की सिद्धि के लिए भगवान् बुद्ध ने प्रतीत्य सयुदाय नम द्वारा वस्तु उनों की नित्यता और उनकी सार्वकालिकता का इसलिए खण्डन किया था कि प्रत्येक वस्तु अपने हेतु प्रत्यय पर स्वोत्पत्रि के लिए आधारित है। और अपने हेतु प्रत्यय के अभाव से वह विनश्यमान भी है। क्षणिकत्व की स्थापना करते हुए सौत्रान्तिक प्रतीत्य समुतपाद के नय की वस्तु क्षणिकता के सम्बन्ध में भी पर्यालोचन

---

26. स्फु. पृ. 100

करते हैं और अपनी धारणा के अनुरूप उसका आख्यान करते हैं। उनका मत यह है कि संस्कृत धर्मो के प्रतिक्षण विनाशी होने से प्रतीत्प समुत्पाद भी क्षणिक है। "तत्र संस्कृतानां धर्माणां प्रतिक्षणं विनाशोपगामात् क्षणिक: प्रतीत्य समुत्पाद:"। इसी तरह वे साम्बनिधक, आवस्धिक और प्रकार्षिक प्रतीत्य समुत्पाद नम का भी क्षणिकत्व की दृष्टि से आख्यान करते हैं।[27] और इसी क्षणिकता के लिए हेतु प्रत्ययों की कारणता से उत्पत्ति-उत्पाद की पूर्व परता का निषेध करते हुए वे यह उदाहरण देते हैं कि तम को प्राप्त कर दीप प्रकाश करता है। ऐसा नहीं हैं कि पहले तम प्राप्त होता है और वाद में प्रकाश से वह जाता हे। इसी प्रकार 'मुखं व्यादाम शेते' का उदाहरण भी वे देते हैं, और कहते हैं कि मुख का खुलना और शयन क्रिया का होना एक साथ ही होता हैं, पृथक-पृथक पूर्वोत्तर भाव से नहीं।

इस प्रकार से यदि और भी स्पष्टता से सौत्रान्तिक दृष्टि का और इनकी वस्तु क्षणिकता की अवस्था का अवलोकन किया जाए तो यही प्रतीत होगा कि वे यह मानते है कि पदार्थ स्वात्मलाभ के अन्तर विनाश शील हैं। क्षण के अनन्तर क्षण का जो कम हैं, वही आत्मलाभ है तथा पूर्वा पर क्षणों का अनन्तर विनाश ही क्षण शब्द से कप्यित है। संस्कृत धर्मो का व्यय उत्पत्ति के अनन्तर व्यय रूप है चित्र चैन्तों की तरह - 'संस्कृतस्यावश्यं व्ययादिति। उत्पत्यवत्रर विनाशि रूप चिन्त चैन्तवत'।[28]

इस प्रकार से उपरिलिखित रीति से जो साक्ष्य और तर्क दिए गए है। उनसे यह स्पष्ट ही अवगत होता है कि सौत्रान्तिक वस्तु की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी वे उसके कालावस्था की दृष्टि को अत्यन्त सूक्ष्मता से देखते है। वैभाषिकों की

---

27. स्फु., पृ. 40

28. अ.को. 412

इस दृष्टि से उनका सामज्जस्य नहीं, बैठता कि वस्तु की अनित्यता होने पर भी उसकी सत्ता भूत, वर्तमान, और भविष्यत् में होती है। वे उत्पाद, स्थिति, जरा और अनित्यता का उस रूप में आख्यान नही करते जैसे उनके पूर्व के स्थविरवादी और वैभाषिक आचाय करते थें। एक ही क्षण में हेतुक वस्तु का उत्पाद और विनाश ही उन्हें स्वीकार है जिसके लिए स्थिति की कल्पना उत्पाद ओर विनाश के बीच करना उन्हें अभीष्ट नहीं हैं। सौत्रान्तिक भी सूत्रों को प्रमाण मानकर स्वयं को भगवान बुद्ध के सत्य ज्ञान के व्याख्याता के रूप में प्रस्तुत करते हैं ओर यह कहते हैं कि उनकी दृष्टि ही वस्तुतः यथार्थ दृष्टि है। यदि उनके इस कथन के दीर्घ निकाय के उस वार्तालाप के साथ संयुक्त करके देखा जाए, जिसमें भगवान् बुद्ध और भिक्षुओं के आपस के प्रश्नों और प्रति प्रश्नों से यह कहा गया प्रतीत होता है कि जिस समय भूतकाल में आत्म प्रतिलाप होता हैं, उस समय वर्तमान और भविष्यत कालीन आत्म प्रतिलाप असंत् होता है। जब वर्तमान काल में आत्म प्रतिलाभ होजा है तब अतीत और अनागत आत्म प्रतिलाप अंसत् होता है, जब भविष्यत् कालीन आत्म प्रतिलाप होता है। तब भूत तथा वर्तमान आत्म प्रतिलाप असत होता है। इस तरह लोक निरूक्ति, लोक व्यवहार और लोक प्रंज्ञति ही व्यवाहर मात्र है।

इस तरह क्षणिक पदार्थो के उत्पत्ति विनाश का विधान का जहाँ सौत्रान्तिक अपने पूर्व के स्थविरवादी और वैभाषिकों की वस्तु दृष्टि को और अधिक सूक्ष्म दृष्टि से देखते हैं, वही वे महायानी दार्शनिकों के विचार को पृष्ठ भूमि भी देते हुए दिलाई देते है।

(ग) विज्ञानवादी और उनकी दृष्टि में अनित्यता

आचार्य असंग महायान की उत्कृष्टता और श्रेष्ठता के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए यह कहते है कि महायान श्रावकमान से इसलिए श्रेष्ठ है क्योंकि महामान का अर्थ गम्भीर है और यह रूतार्थ से भिन्न है। अतः केवल रूतार्थ का अनुसरण करने से इसका अभिप्राय विदित नहीं होता। महायान में श्रावकों के लिए अपनी विमुक्ति मात्र का उपदेश नहीं दिया गया अपितु यह यान परार्थ के लिए उपदेश देता है।[1] भगवान बुद्ध की दृष्टि का उनके विचारों का अपनी इस धारणा के अनुकूल आख्या करने वाले तथा महायान दर्शन को एक निश्चित दार्शनिक आधार देने वाले आचार्य तथा उनके गुरू आर्य मैत्रेय नाथ इस दर्शन के आदि प्रतिष्ठापक के रूप में मान्य हैं।[2] महायान दर्शन के विज्ञानवादी दृष्टि कोण को स्थापित करने वाला प्रमुख्य ग्रन्थ महामान सूत्रालंकार इन्हीं दोनों आचार्यो की कृति है जो अन्य तीन प्रस्थानों के सिद्धान्तों का समन्वय विज्ञान वादी दृष्टि कोण से करती है।[3] बाद में इन्हीं दोनों आचार्यो की धारणाओं को आधार बनाकर और बुद्ध की देशना का सन्दर्भ देकर ही वसु वन्धु, पिड़्‌ नाथ, धर्म कीर्ति जैसे आचार्यो ने विज्ञान वाद को दृढ़ता से पुष्ट और विकसित किया।[4]

'त्रैधातुक विज्ञप्ति मात्र है, चित्र मनस् विज्ञान और विज्ञप्ति पर्याय है' क्योंकि विज्ञान से पृथक रूपादि का स्वप्न के पदार्थो की भाँति ग्रहण नहीं होता है।[5] जैसी धारणाओं से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि विज्ञानवादी विज्ञान को ही सत् रूप में मानते है वाह्य पदार्थ की सत्ता उनकी दृष्टि में सत् नहीं है। वस्तु का वाह्यकार केवल विज्ञान, चित्र अथवा मनस के आकार का क्या मास मात्र है[5]। फलतः धर्मो

1. म.सू.पृ. 3-4
2. वौ.दू.(पाण्डेय), पृ. 406, वौ.द.(आचार्य), पृ. 384 मा. क्यों.इ.
3. बौ.द.(आचार्य)पृ. 384
4. वौ.ध.द.इ.(पाण्डेय)पृ. 399

की निःस्वभावतः उनकी दृष्टि से इसलिये संगत है क्योकि ग्राहय-ग्राहक के नितान्त अभाव से पदार्थ का स्वप्न में देखे गये पदार्थो की भांति नितान्त अभाव है। विज्ञान का रूपादि के अवभाए से अवभाषित होता है, रूपादि की द्रव्यतः उपलब्धि नहीं है – ''ग्राहय-ग्राहकत्व रहितम् वस्तुमात्र मेव । यतो हि विज्ञानाद् बहिर्न रूपादि गृहयते स्वप्नादिवत्। विज्ञानम् हि रूपाधामासमुत्यधते[6]।

विज्ञानवादी अपनी इस धारणा के अनुरूप कि विज्ञान ही सत् है, वही अपनी प्रवर्तिता से वस्तु के रूप के आभास से आभासित होता है, वस्तु की सत्ता का व्याख्यान त्रिविद लक्षणों से करते है। इन त्रिविद लक्षणों के अनुसार समस्त धर्म इन्हीं तीन लक्षणों में ही सकंलित हो जाते है क्योंकि धर्मो का परिकल्पित लक्षण, परतन्त्र लक्षण और परिनिष्पन्न लक्षण ही किया जा सकता है इनमें से वे धर्म जो नित असत् है किन्तु वाहृय रूप में जिनकी सत्ता होने का भास होता है परिकल्पित लक्षण है अर्थात घर, पर, वृक्षादि जिनका वाहृय रूप दिखाई देता है किन्तु वस्तुतः वे वाहृय त्वेन सत् नहीं है इसलिये ये धर्म परिकल्पित होने से परिकल्पित लक्षण है। जो धर्म हेतु प्रत्ययों के अधीन है, अर्थात जिनकी उत्पत्ति हेतु प्रत्ययों से ही होता है वे परतन्त्र होने से परतन्त्र लक्षण धर्म है इन धर्मो का ही सत् रूप दृष्टिगोचर होता है, किन्तु अपनी उत्पत्ति के लिये परतन्त्र होने से तत्वतः उनकी उनकी सत्ता नहीं है अतः वे धर्म परतन्त्र[5] लक्षण धर्म है। इन धर्मो में ग्राहय-ग्राहक का कल्पित व्यवहार होता है और जो इनकी ख्याति होती है वह है पर वैसी ख्याति नहीं जैसी प्रतीत

6. म.शा.स्थि. पृ. 2

होती है। इसलिये यह धर्म सत् नहीं है। परिनिष्पन्न लक्षण धर्मो की पदार्थ स्थिति है। वाह्यार्थ रहितता ही परिनिष्पन लक्षणता है परिकल्पित लक्षणम् नित्य मसत् स्वरूपा-भावत् परतन्त्र लक्षणम् सत् न, तु तत्वतः इति, ग्राहय ग्राहका ही कल्पित-व्यवहाराश्रय त्वात सत्वम्। पत् ख्याति तदस्ति। यथा ख्याति न तथास्ति। अतो भ्रान्तिरिति, परिनिस्पन्न लक्षणम् सदसत् तत्वम्। दृभाभाव स्वभावात्मकत्वात् सत्वम्। दृभाभावात्मक रवात-असलम् विशफध्यालम्ब नत्वात्-निर्विकार त्वात् नित्यं तथाभावात्-तत्वम्[7]। महायान सूत्रालकङ्कार में परिकल्पित धर्मो के अस्तित्व के आभास को दिखाते हुए आचार्य असङ्ग ने यह उदाहरण दिया है कि नाम की परिकल्पना से अर्थ की परिकल्पना और नाम की परिकल्पना से अक्षर की परिकल्पना की ग्रहण प्रकृति दिखाई देती है। जबकि ग्राहय-ग्राहक अत्यन्त असत् होने से दोनों की परिकल्पित स्वभावी है सतत् द्वयेन रहितं तत्वं परिकल्पितः स्वभावों ग्राहय-ग्राहक लक्षणेनात्यन्तमसन्त्वात्[8]।

वसुवन्धु अपने त्रिस्वभाव निर्देश में परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न लक्षण धर्मो को विशेष रूप से प्रतिपादन करते हुए यह कहते है कि सत् लक्षण, असत् लक्षण, व्यत्यक और एकात्मक संक्लेश लक्षण और व्यवदान लक्षण तथा उनके गम्भीर अभेद नभ को इस प्रकार से जानना चाहिए।

परिकल्पित, स्वभावी धर्म सत् लक्षण भी है और असत् लक्षण भी है। अर्थात वे धर्म, घर पठादि वाह्याकार से गृहीत होने के कारण सत् है, जबकि वस्तु की त्रिकालिक सत्ता और उसकी क्रियाकारिता के नभ से वे सत् नहीं असत् है।

---

7. म.शा. स्थि. पृ. 13, वि.मा. 20451

8. म.सू. पृ. 59

सन्त्वेय ग्रहण होने से सत् और अत्यन्ताभाव होने से उन धर्मो की असतंता सिद्ध होती है। इसी तरह परतन्त्र लक्षण धर्म जो हेतु, प्रत्ययाधीन है भ्रान्ति रूप से विघमान होने के कारण सत् है किन्तु जैसा उनके प्रतिभासित होता है वैसे धर्मो के इन त्रिविध लक्षणों से ही इनकी निस्वभावता, अनुत्पन्नता और अनिरूद्धता भी सिद्ध होती है। वसु बन्धु कहते है कि परिकल्पित लक्षण धर्म इसी लक्षणी से निःस्वभाव है। परतन्त्र लक्षणों का स्वतः भाव नहीं है इनकी उत्पत्ति हेतु-प्रत्यया-धीन है, इसलिए इन उत्पत्ति निःस्वभावता हे। परिनिष्पन्न लक्षणता क्योंकि परतन्त्र धर्मो की परमार्थता है और तथ्यता भी इसलिए वहीं परमार्थ निःस्वभावता है। अतः इन धर्मो की निःस्वभावता स्वतः सिद्ध है -

प्रथमों लक्षणे नैव निःस्वभावोड परः पुनः।
न स्वभम्भाव एतस्येत्य परा निःस्वभावता।
धर्माणां पर मार्घश्च समतस्यथतायि सः।।[9]

मैमंयनाथ अनित्य को त्रिविध रूप में आख्यता करते है। वे कहते है असत् अर्व में वस्तु परिकल्पित होती है इसलिए उसका अस्तित्व नहीं है। वह वस्तु उत्पाद और न्यय के अर्थ में परतन्त्र होने से भी अस्तित्व शील नहीं, क्योंकि अपने अस्तित्व के लिए वह स्वतन्त्र नहीं है। वस्तुतः अविकार धर्म ही परिनिष्पन्न धर्म है - 'त्रिविधों हिअनित्यार्धः असदर्थः परिकल्पिते। उत्पादत्वयार्थः परतन्त्रे। आगन्तुक - भलार्थः परिन्ष्यिन्त्रे। वस्तु तस्तु परिनिष्पतीडविकार धर्मा।[10]

न होने के कारण असत् है। परिनिष्पन्न स्वभावी धर्म अद्रयरूप से विधमान

9. वि.भा. पृ. 329

10. म.शा. स्थि. पृ. 13

होने के कारण असत् लक्षण है परिनिष्पन्न स्वभावी धर्म अद्वयरूप से विद्यमान हाने के कारण सत् लक्षण है और द्वयभाव से ग्राहक के भाव से न होने से असत् लक्षण है।

वस्तु की वास्तवित सत्ता के अभाव में भी इन लक्षणों से कैसे वस्तु का आभास होता है। इसके लिए उदाहरण देकर वक्षु बन्धु ने यह कहा है कि जैसे मायाकार की माया द्वारा भाषित होने से हस्ती में रूप की प्रतीति होती है जबकि वहाँ रूप न होकर केवल आकार मात्र ही होता है, हस्ती का वहाँ सर्वथा अभाव होता है। और वहाँ हस्ती परिकल्पित स्वभाव है, हस्त्याकृति परतन्त्र स्वभाव है तथा उस आकृति में हस्ती का वस्तुतः अभाव परिनिष्पन्न लक्षणता है -

प्रथमों लक्षणे नैव निःस्वभावोऽ परः पुनः।

न स्वभम्भाव एतस्येत्य परा निःस्वभावता।

धर्माणां पर मार्थश्च समतस्यथतापि सः।।[11]

यैजेयनाथ अनित्य ..... अभावपरितष्यन्त लक्षणता है - प्रथमों लक्षमेनैथ .....

किन्तु इन अभाव स्वभावी धर्मो की कल्पना असत्कल्पी चित्र द्वारा कैसे कल्पित किया जाता है। इसका समाधान करते हुए वसु बन्धु ने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि चित्र द्वारा अत्यन्त अभावी धर्मो को कल्पित किया जाता है और यह चित आलय विज्ञान के रूप में हेतु चिन्त तथा प्रवृत्ति विज्ञान के रूप में फल चिन्त है। आलय विज्ञान चिन्त से वासना बीज प्रषचित और परिपुष्ट होते रहते है और प्रवृत्ति विज्ञानों की सप्त विद्य रूपता से वस्तु के भिन्न-भिन्न आकार ग्रहण करते है।[12] धर्म कीर्ति भी अपने प्रमाण वार्तिक में असदर्थ के होने पर ग्रहय-ग्राहक के फल भेद की व्यावहारिकता को उन्तरित करते हुए कहते है कि परमार्घतः ग्राहय-ग्राहक के अविभाग

11. वि.भा. पृ. 329

12. वि.भा. पृ. 452

होने पर भी बुद्धि-आत्मा वासना से वासित दृष्टि ही ग्राहय-ग्राहक भेदवान् संविमि का लक्षण करती है :-

अविभागोऽयि वुद्धयात्म विपर्मासित दर्शनैः।
ग्राहय-ग्राहक संवित्ति भेदवानिव लक्ष्यते।।[13]

वहाँ वे यह तर्क देते है। कि जैसे मन्त्र से अभिपूत अक्ष, मृन्ति का ढेले स्वर्ण गुटिका की भाँति भासित होने लगते है, यद्यपि वहाँ स्षर्णआदिका अभाव होता है, उसी तरह वस्तु का वस्तुतः अभाव होता है केवल विज्ञान या चित्र की वासना से वस्तु का रूप सत् की भाँति भासित होता है।[14]

किन्तु चित्र या विज्ञान की इस स्थापना से यह भी विज्ञानवादियों का तात्पर्य नहीं है, कि चित्र या विज्ञान इस प्रकार का नित्य या उभभिब्धिवान है जैसे नित्यता नित्यवादियों को अभिप्रेत होती है। वसुबन्धु कहते है कि चित्र मात्र की उपलब्धि से वस्तु के वाहय रूप की अनुलब्धि होती है, और वस्तु के वाहयार्थ की अनुलब्धि से चित्र का अनुपलम्भ होता है। इन दोनों की अनुलब्धि से शून्यता बोधित होती है। और शून्यता की उपलम्भता से विमुल की उपलम्भता होती है। आर्य मैत्रेय ने भी इसी सिद्धान्त को कि विषय की अनुपलब्धि से विज्ञप्ति की भी अनुपलब्धि होती है, विज्ञान की नित्यवादिता का खण्ड न किया है - विषयानुपल ब्धिमाश्रित्य विज्ञाप्तेर प्यनुपलब्धिर्जामतें मतो न ग्राहया भावे ग्राहकालं मुज्यते ग्राहयत्वापेक्षता तद् ग्राहकस्य व्यस्थापनात्[15]।

धर्म कीर्ति भी यह कहते है - आचार्य मनोरम ग्राहय-ग्राहक भाव से धर्मो की

---

13. प्र.वा.पृ. 205

14. वही पृ. 205

15. मा.शा.स्थि. पृ 05

वाहपर्थता का निषेधक कहते है कि 'तस्माद् भावा ग्राहयादयो येन रूपेण ग्राहमत्वादिना विरूप्यन्ते अनुभूमन्ते तदूपं तेषां नास्ति, यास्मादेकं रूपमने कञ्च रूपं तेषां न विद्यते।[16]

जब विज्ञानवादी इस प्रकार यह प्रमाणित करते है कि विज्ञान की विज्ञप्तिता से ही वाहय पदार्थो का आभास होता है! उनकी सत् सज्ञा के कारण नहीं, तब उनके सामाने ये प्रश्न उपस्थित किए जाते है कि अर्थ की अभावकता से उत्पन्न होने वाला विज्ञान किसी देश विशेष में, काल में, और उस देश तथा काल में रहने वालों की सन्तान ने क्यों उत्पन्न होता है। तथा वाह्यार्थ असत् होने पर भी उन से क्रिया कारिता कैसे घटित होती है[16A]। वस्तुवादी, दार्शनिकों की इन शंकओं का निराकरण करते हुए मैत्रेय, वसु बन्धु और धर्म कीर्ति आदि आचार्य विस्तार पूर्वक अपने पक्ष की स्थत्वना करते है और यह कहते है कि वस्तु की असतता होने पर भी देश और काल में देखे जाते है। अथवा तैयरिक द्वाराय् के जैसे दिक असत् पदार्थ के होते हुए भी विज्ञान मासित पदार्थो का आभास होता है- अर्थ मासं हि विज्ञानं कृतवतां विज्ञानात् पृथभूतार्थ सद्भावे ऽमिनिवेशः तैत्रिरिकाषां के शोण्डुकादिष्विव। तस्मात् तदमिनिवेशव्याजनार्थ मुच्यते विज्ञान में देव मर्थामासमुत्पधते इति[17]। इसी हेतु से यह नहीं मानना चाहिए कि वाह्ययार्थ की सत्ता से ही देश और काल का नियम सिद्ध होता है यदि ऐसा होता तो स्वप्न में देश और काल में वस्तु की अतीति न होती? इसी प्रकार वसुबन्धु ने प्रेतों और नरकादि तथा पूय नदी का उदाहरण देकर स्वप्न में, स्त्री पुरूषादि के असंयोग से शुक्र विसर्जन के दृण्टान्त को उपस्थित कर यह प्रस्तुत किया है, कि एक जैसे कर्मो के फलभोग से प्रेरित प्रेत पूय नदी के न होने पर भी उसे सभी देखते है, और स्त्री के न होने पर सन्तान के अनियन के लिए तथा अर्थ

---

16. वि.मा., पृ. 17
17. म.शा.स्थि.पृ. 04, वि.मा.पृ. 16, 20

क्रिया-कारिल के लिए भी वाह्य अर्थ की सततता का प्रमाण नहीं दिया जा सकता[18]। धर्म कीर्ति ने तैमिरिकों के केशाभास की सामान्य।

विषयता पर यह तर्क उपस्थित कर यही निष्कर्ष उपस्थित किया है कि 'तैयरिक केश प्रतिमासं ज्ञानमनर्थ कम्। वाहृय के शाभावात्।' तैयरिक द्वारा दृष्ट केशों का ज्ञान अर्थ रहित है क्योंकि केशों की वाहृय सत्ता का अभाव है[19]।

धर्मो की विक्षप्ति मात्र सिद्ध की स्थापना से भगवान के वचनों का किसी प्रकार प्रतिषेध होता है-ऐसा विज्ञान वादी स्वीकार नहीं करते है। उनके अनुसार भगवान ने जब 'मत्किंचि दूपम तीतागत प्रत्युत्पन्न मिति''।[20] कहा है तब उनका अभिप्राय किसी महान् प्रयोजन की सिद्ध का था। ये सूत्र में पार्क सूत्र है और इनका वहीं अर्थ नहीं होता है जो इनके शब्दों से निकलता है[21]। भगवान के इन शब्दों का जो शाब्दिक अर्थ समझते है वे रूपादि को द्रव्यत: स्वीकार करते है। किन्तु रूपादि द्रव्यत: उपलब्ध नहीं है। क्योंकि रूपादि को द्रव्यत: माना जाएगा तो या तो उन धर्मो को परमाणु के अवयवी रूप में अथवा अवयव रूप में प्राप्त होना चाहिए। अवयवी रूप विज्ञप्ति का विषय नहीं ले सकता और अवयव एकांशेन परमाणु रूप नहीं सिद्ध होगा, द्रव्य न होने से - न तदेकं न चानेकं विषय: परमाणुश:
न च ते संहत: मस्मात् परमाणुर्त सिध्यति[22]।

धर्म कीर्ति और आचार्या मनोरथ भी परमाणु के द्रव्यत: उपलब्धि के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। वे यह तर्क देते है कि शरीर और हस्तादि में अवयवी और

---

18. वि.मा.भू. 67, पृ. 21
19. प्र.वा. पृ. 102-103
20. वि.भा., पृ. 34
21. वि.भा., पृ. 45
22. प्र.वा., पृ. 36

अवयव की धारणा निषिद्ध है, क्योंकि यदि इनमें से अब यव हस्तादि होगें तो वे अवयवी से एवं रूप होंगे। तब हस्तादि के कम्प से पादादि का कम्प भी होने लगेगा। एक ही दृव्य के होने से तत्सभवात्ये द्रव्यों का कम्प ही उचित हैं। इसलिए अवयव अवयवी रूप में शरीर और हस्तादि की द्रव्यतः प्राप्ति की कल्पना संगत नहीं है। पाटयादि कम्पे सर्वस्य कम्प प्राप्ते विंरोधिनः।

एक स्मिन कर्मणो प्रयोगात् स्मात् पृथक् सिद्ध रन्यथा।।[23]

जव विज्ञान वादी अपने इस दृष्टि कोण को स्पष्ट कर देते है कि आलम विज्ञान की वासना के संचय के कारण उसी में तद वासना से रूपादि पदार्थो का आभास होता है वे पदार्थ न तो द्रव्यतः अस्ति त्वशीस है और न ही उन ही वाहय सत्ता स्वीकार की जा सकती है तब वे भगवान बुद्ध की देशना में धर्मो के प्रतीत्य समुत्पादनय को भी अपने इसी दृष्टि कोण के अनुरूप समझतें है। आर्य मैत्रेय ने प्रतीत्य समुत्पादनय को समझाते हुए कहा हैं कि अविधा की छादनता से संस्कारों की वासना विज्ञान में संचित होती हैं। वही संस्कार अपनी वासना से संभव का अभिसंस्कार कर लेतें है। अविधा के अधिपत्य से पुनः-पुनः संस्कार भव की संस्करणता में समर्थ होते हैं, भव की सत्ता होने से नहीं विज्ञान में संचित वासनाऐं उत्पत्ति, स्थापनादि की प्राप्ति का आभास कराती है। इसी तरह कर्म के परिभाव से प्रवृत्तिच्युति, नाम रूपादि का क्रम बताकर आलय विज्ञान की वासना से प्रतीत्य समुत्पन्नता नभ दृष्टि का विश्लेशण करते है।

वसुबन्धु भी त्रिंशिका में प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त को विज्ञानवादी दृष्टिकोण

---

23. प्रा.वा. पृ. 36

से सिद्ध करते हुए अविद्या प्रत्पय से संस्कार और संस्कार से आश्रम भूत विज्ञान को ही आत्म विज्ञान बताते है।[25]

अविद्या दृष्टि से विज्ञान की विज्ञप्तिता से धर्म जिस रूप में कल्पित होते है, वस्तुतः वे उस प्रकार होते नहीं है, वे केवल विज्ञान परिणाम की विकल्प ही होते है। विज्ञान वाहयाकार के बिना भी अपने आरोपण से वासना की कल्पना से तद् तद् धर्मो को कल्पित कर लेता है। ''विज्ञान परिणार्मो ऽमं विकल्पों यद् विकल्प्यतों तेन उन्नास्ति''।[24] विज्ञानवादियों की दृष्टि से जब परिकल्पित धर्म द्रव्यतः उपलब्ध नहीं हैं, वाहयाकारेण असत् है तो विज्ञान को इस प्रकार असत् नहीं माना जा सकता। उनका इस सम्बन्ध में यह कथन है कि विज्ञान से ही बाहयकार की असत्ता होने पर भी प्रतीति होती है। विज्ञान की वासनाओं से ही द्रव्य के वस्तु के विद्यमान न रहने पर वस्तु या द्रव्य सत् रूप में भासित होता है इसलिए वस्तु का द्रव्यतः अस्तित्व नं हाने पर भी विज्ञान का द्रव्यतः अस्तित्व है[25] - प्रतीत्य समुत्पन्न होने के कारण -

एवं च सर्व विक्षेमं परिकल्पित स्वभावत्वाद् वस्तु तो न विद्यते।

विज्ञान पुनः प्रतीत्य समुत्पन्नत्वाद द्रव्य तो ङस्ती व्यम्युपेयम्। प्रतीत्य समुत्पन्न पन्नत्वं पुन विज्ञनिस्य 'परिणाम' शब्द ज्ञापितम्।[26]

बसु बन्धु भी अविद्या प्रत्यय से संस्कार और संस्कारों का आश्रम आलम विज्ञान कहते है और प्रतीत्य समुपन्नता के सिद्धान्त को स्थिर करते है।

---

24. वि.मा., पृ. 293
25. वि.मा., पृ. 260
26. वि.मा., पृ. 104

इस प्रकार इन सन्दर्भो और तथ्यों से विज्ञानवादियों की यह धारण स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है कि विज्ञान ही सत् है किन्तु वह भी हेतु प्रत्यय जन्म होने से सत् वादियों के सत् और नित्य की भाँति सत् तथा नित्य नहीं है। यह उसकी अनन्त कालिक प्रकिया है। आलय विज्ञान से अनन्त कालिक वासनाऐं संचित होती रहती है, जो देश, काल सन्तान और अर्थ क्रियाकारित्व के प्रसङ्ग. से वस्तु रूप में प्रतिभासित होती है। वस्तु का स्वरूप वाह्यता विद्यमान नहीं है उसकी द्रव्यता प्राप्त नहीं है। बसु बन्धु ने तेनेदं सर्व विज्ञप्ति मात्रकम् कह कर यही इङ्गित किया है कि संस्कृत धर्म सभी वस्तु रूप में नहीं विद्यमान होने पर भी विज्ञान के द्वारा आभास रूप में ही विद्यमान है। इस तरह विज्ञान सत् से ही वस्तु की द्रव्य रूप में प्राप्ति प्रतीत होती है जबकि वस्तुतः वस्तु द्रव्य रूप में उपलब्ध नहीं है।

इस प्रकार हम यह देखते है, कि विज्ञानवादी वस्तु की वाहयार्थ सत्ता का निषेध कर बौद्धों के बैभाषिक सौत्रान्तिक निब्दायवादियों से इस अर्थ में भिन्न हो जाते है, कि वे उन दार्शनिकों की भाँति वस्तु की त्रैकालिक सत्ता स्वीकार करते है और नहीं क्षणिक सन्त का आख्यान करते है। वे वस्तु के वस्तुत्व को द्रव्य रूप में स्वीकार करने के पक्ष पाती नहीं है। उनकी तो यह मान्यता है कि विज्ञान ही सत् है और उसी में अनेक जन्मों की वासनाओं के संचय से वस्तु का अभास होता है।

माध्यमिक शून्य वादियों की तरह वे शून्य की भी व्याख्या नहीं करते वे यद्यपि विज्ञान और विज्ञेय का निषेध इस रूप में करते है कि विज्ञेय के कल्पित होने से विज्ञान स्वयं अनुलब्ध हो जायेगा। और वही स्थिति शून्यता है, परमार्थता है,

किन्तु वे शून्य वादियों की तरह विज्ञान और विज्ञेय का उभयथा निषेध करने के पक्ष में नहीं है तथा विज्ञानवादी धर्मो के अभिलाप कथन से विज्ञान की सत्ता को भी अस्वीकार नहीं करते। क्योंकि ऐसा करने से आधार के बिना आलय विज्ञान के बिना वस्तु के आभास का भी कथन व्यर्थ हो जायेगा -

एवं आलय विज्ञाने सति संसार प्रवृत्ति र्निवृन्तिश्च, नान्यथेत्य वश्यं चक्षुरादि विज्ञानव्यतिरिक्तम् आलय विज्ञानय्।[27]

---

27. वि.भा. पृ. 298

(घ) सत्तावादी और क्षणिक वादियों का मत वैविध्य

बोधि प्राप्ति के अनन्तर अपने भ्रमण काल में जब भगवान बुद्ध श्रावस्ती में पोढ़पाद की सभा में पहुंचे थे तो पोढ़ पाद ने उनसे यह प्रश्न किया था कि भन्तं! कि यह लोक शाश्वत है कि अशाश्वत तब भगवान बुद्ध ने पोढ़पाद को यह उत्तर दिया था कि इस प्रकार के प्रश्न न ही निवृति के लिए होते हैं और न ही विराग अथवा निरोध के लिये उचित है। वे यह कहते है, कि दु:ख की जो दु:ख स्थिति है इसको जो जानता है वही सर्वज्ञ ज्ञान से युक्त है[1]। यद्यपि वाद में ऐसे कथन है जिनसे भगवान बुद्ध की वस्तु के अस्तित्व के सम्बन्ध में दृष्टि-विचार का संकेत मिल सकता है! जहां संयुक्त निकाय में ''मं किञ्चि भिक्खवे रूपं अतीता नागत पच्चु'' जैसे कथन वस्तु के त्रिकाल अस्तित्व का संकेत करते हैं[2]। वही 'यं भिक्ख वे रूपं जातं पातुभूतं अत्थीतितस्य अत्थी ति तस्य समञ्ञा, अत्थीति तस्य पञ्ञन्ति न तस्य संखा। 'अहोसी' ति, न तस्स सङ्खवा, भविस्सती 'ति' जैसे वाक्य वस्तु के वर्तमान अस्तित्व का भी ज्ञापन करते हैं[3]।

त्रिपिटक के ऐसे ही कथनों को आधार मानकर और उन कथनों के सिद्धानतों को अपनी दुष्टि से व्यख्यात करके वाद के बौद्ध दार्शनिकों ने वस्तु के अस्तित्व के सम्बन्ध में अपने अपने मतों की स्थापना की और यह कहा कि वे जो कहते है, भगवान .की दृष्टि के अनुरूप कहते है और यही तथ्य तथा सत्य है।

उपरिलिखित संकेत के अनुरूप यदि हम देखें तो वैभाषिक और सौत्रान्तिक दोनों ही वस्तु की सत्ता का उसके अस्तित्व का आख्यान करते है, किन्तु पृथक जैसा

---

1. दी.नि. 1 (क) पृ. 13. खु. नि. 5 (क). 146
2. सं. (पी.टी.एस.) पृ. 47. अंगु 1 (पा.टै.सो) पृ. 197
3. क.व. (क) पृ 135-136

कि पहले देखा जा चुका है दोनो के कथनों में और सिद्धान्तों में वस्तु की सत्ता के काल को लेकर पर्याप्त भेद है। वैभाषिक भी वस्तु की सत्ता को क्षणिक ही मानते हैं, किन्तु जैसा हम अभी आगे देखेगे उसके आधार पर यह ज्ञात कर सकेंगे कि वैभाषिकों के क्षण से सौत्रान्तिकों के क्षण में पर्याप्त अन्तर है।

पदार्थो की स्थिति अथवा उनकी सत्ता का क्या स्वरूप है इसकी विवेचना करते हुए अभिधर्म कोश में वसुबन्धु संस्कृत धर्मो का लक्षण करते हुए उन्हें समेत्य संभूय प्रत्ययैः कृता इति संस्कृतः बताते है और अध्व शब्दों से इनका आख्यान कर 'त एव संस्कृता गत गच्छद् गमिष्यद् भावदध्वनः अघन्ते द्रनियतत्येति च' कहकर इन्हें गत, गच्छत् गमिष्यत् रूप से त्रिकाल अस्तित्व की दृष्टि से अनित्यता स्वभावी मानते हैं[4]। इस तरह से वे वस्तु की अनित्यता की आख्यान करते हुए भी वैभाषिक मान्यता की इस दृष्टि का प्रतिपादन करते हैं कि वस्तु अनित्य होते हुए, क्षण, क्षण, में उत्पन्ति-विनाश की गति में प्रवाहमान् होते हुए भी अतीत, वर्तमान और भविष्य काल में अस्तित्व शील है। वस्तु की इस क्षणिक सत्ता में ही जब वह अतीत अनागत और वर्तमान कालिक अस्तित्व का ज्ञापन करती है तो एक ही क्षण में उस वस्तु की जाति, स्थिति, जरा, और अनित्यता भी शामिल होती है। उस वस्तु के एक क्षण में उसका उत्पाद भी होता है, उसका निरोध भी होता है स्थिति और अन्यथात्व भी शामिल होता है[5]।

---

4. अ.को.भा. पृ. 4,5

5. शा. प्र. 1 पृ. 46-47

सौत्रान्तिक दृष्टि से वस्तु की त्रिकालिक सत्ता का आख्यान इस प्रकार करना ठीक नहीं है। स्फुटार्थाकार में सिद्धान्त की अस्वीकृति के लिये भगवान बुद्ध के 'तथा कि ञ्विद्रूयमती तानागत प्रत्युत्पन्नमिति' इन वचनों की व्याख्या करते हुए यह कहा है कि 'चक्षुप्रतीत्य रूपाणि उत्पघते चक्षुर्विज्ञान सहजाता वेदना संज्ञा चेतनेति विस्तार:' चक्षु द्वारा रूप की प्रतीति से चक्षुर्विज्ञान और उसी के साथ वेदना, संज्ञा और चेतना उत्पन्न होती है, किन्तु जाति आदि चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होती। इनके अस्तित्व में भी समर्थ अनुमान नहीं है। इनके द्रव्यत: अस्तित्व का भी आगम नहीं होता। इसलिये संस्कृत पदार्थो का उत्पाद, व्यय, और स्थिति के प्रज्ञान का तात्पर्य यह नहीं कि इस त्रिकाल में अस्तित्व है क्योकि कि भगवान बुद्ध ने कहा कि अर्थ का प्रति सरण होताहै। व्यञ्जन का नहीं। धर्म का प्रतिसरण होता है युद्गल का नहीं। सूत्रों का नीतार्थ है। प्रतिसरण होता है नेमार्थ नहीं, ज्ञान का प्रतिसरण होता है, विज्ञान का नहीं। इसलिये भगवान बुद्ध के वस्तु के उत्पाद, व्यय और स्थिति के प्रसप्त होने के कथन का केवल इतना ही तात्पर्य कि प्रवहमान क्षण ही संस्कृत है और वही प्रतीत्य समुत्पति है। अपने इस कथन को तर्क का आधार देते हुए स्फुटार्थाकार ने कहा है कि प्रवाह का आदि ही उत्पाद है और उसका विनाश ही निवृन्ति है।

सद्दश के क्षणों की अनुवर्तमानता ही स्थिति है[6]। यही भगवान के कथन का तात्पर्य है। वस्तु की त्रैकालिक सत्ता आख्यान करने वाले वैभाषिकों से जब यह कहा जाता है! कि यदि वस्तु भूत, वर्तमान और भविष्यत् काल में सतत् वर्तमान रहेगी तो उसकी शाश्वतता की प्राप्ति हो सकती है जो कि भगवान बृद्ध को अभिप्रेत नहीं है। इस प्रश्न को उत्तरित करते हुए वसुबन्धु का यह कहना है कि वस्तु की त्रिकाला

स्तित्व का तात्पर्य यह नहीं है कि वह शाश्वत हैं, क्योंकि वस्तु का लक्षण संस्कृत रूप है, और सम्पूर्ण प्रत्ययों से उत्पन्न होते है, वे संस्कृत धर्म है[7]।

इस तर्क के समर्थन में वे भगवान बुद्ध के कथन को उद्‌धृत करते है, जिसमें भगवान ने कहा था कि यदि अतीत रूप नहीं लेगा तो आर्य श्रावक अतीत रूप से कैसे अनपेक्ष होगा, यदि अनागत रूप नहीं होगा तो आर्य श्रावक अनागत रूप कैसे अनपेक्ष्य होगा! इसलिये अतीत-अनागत रूप है। इसी तरह वसुबन्धु ने कहा कि अतीत और अनागत धर्मो की असत्ता होने पर विज्ञानोत्पन्ति नहीं होगी क्योंकि भगवान ने छयं प्रतीत्य विज्ञानस्पोत्पादः कहा है। पदार्थ की तदात्मकता पर ही विज्ञान प्रवर्तित होगी। यदि पदार्थ की त्रिकालिक सत्ता का निषेध किया जाएगा तो आलम्बन के अभाव में विज्ञान विज्ञान प्रवर्तित नहीं होगा।

इसी तरह अतीत अनागत धर्मो के अस्तित्व के अभाव से शुभाशुभ कर्म के फल की व्यवस्था कैसे हो सकेगी, क्योंकि फलोत्पन्ति काल में वर्तमान काल हेतु नहीं हो सकता। अतः अतीत, अनागत का अस्तित्व वैभाषिक सम्मत है। ''तस्मादस्त्ये वातीतानागतमिति वैभाषिकाः[8]''

धर्मो की त्रिकाल में सर्वास्तित्व की सिद्धि के कारण वैभाषिक सर्वास्तिवादी ही है इसलिये वस्तु के त्रिकाल स्वरूप की सततता के सम्बन्ध में सर्वास्तिवादियों के जो चार सिद्धान्त है उनका पर्यालोचन कर वैभाषिक वसुमित्र के वस्तु के अवस्थान्याथात्व के सिद्धान्त को उचित मानते है! इस सिद्धान्त के अनुसार किसी भी

---

6. स्फृ. पृ. 97, 98
7. अ.को.भा. पृ. 296
8. अ.को.भा.पृ. 295-296

वस्तु का त्रिकाल में प्रवाहमान होते हुए भी वस्तु का द्रव्यतः परिवर्तन नहीं होता, अपितु अवस्था-अवस्था के भेद से उसका अवस्थान्यथात्व ही होता है। जैसा कोई वर्तिका अङ्क पर रखे जाने पर एक कही जाती है और सौ के अङ्क पर रखे जाने पर सौ की संज्ञा पाती है, मूलतः वर्तिका में द्रव्यतः कोई परिवर्तन नहीं होता है।

अन्य तीन पक्षों में भावान्यथात्व के सिद्धान्त के विषय में वसुबन्धु और अभिधर्म दीपकार का कथन है कि वह सांख्य के परिणात्मवाद का ही एक रूप है उसमें ही इस मत का निक्षेप किया जा सकता है, जबकि भदन्त घोषक के मत लक्षणान्यथात्व के विषय मेंअध्वसंकरता की प्राप्ति होती है, और सभी का समीक्षणों में योग प्राप्त होता है। अन्तिम चतुर्थ पक्ष के विषय में जो बुद्ध देव का पक्ष है, और जिनके मतानुसार धर्म अध्व में प्रवर्तमान होने पर पूर्वापर की अपेक्षा से ही अवस्थान्तर में जाना जाता है, सिद्धान्त के अनुसार भी एक ही अध्व में तीनों अध्वों की प्राप्ति होती है! टतः इन तीनों के अतिरिक्त तृतीय पक्ष वसुमित्र का वक्ष ही सुसंगत है।

वस्तु की त्रिकाल सत्ता की स्थापना का यह आधार वैभाषिक धर्मो क्रियाकारिता पर निर्धारित करते है, क्योंकि वे यह कहते है! कि जब धर्मकारिता नही करता तब वह अनागत संज्ञक होता है जब धर्म कारित युक्त होता है तब वह वर्तमान और जब धर्म क्रिया करके निरूद्ध होता है तब वह अतीत संज्ञक होता है। इसलिये धर्म अतीत, अनागत और वर्तमान कालिक है- 'यदा स धर्मः कारित्रं करोति तदा अनागतः। यदा करोति तदा प्रत्युत्पन्नः। यदा कृत्वा निरूद्ध स्तदा अतीत इति।

परिगत मेतत् सर्वम् इदं तुवक्तव्यम्। यद्यस्य तो तमपि द्रव्यतोऽस्त्यनागतमिति[9]।

सौत्रान्तिकों को ये तर्क स्वीकार नहीं है और वे कारित्र के सम्बन्ध में अपनी शंका उपस्थित करते हुए कहते है कि जब धर्मो का अस्तित्व त्रिकाल में है! ते! सर्वदा उनके कारित्र में क्या विद्य है। जब कि धर्मो का कारित्र कभी होता है कभी नहीं होता। वैभाषिक इस आक्षेप का यह कहकर उत्तर देते है कि धर्मो का सार्वकालिक कारित्र इसलिये चिन्त्य है, क्योंकि उससे नित्यता प्राप्त होगी, अतः हेतु प्रत्ययों की सामग्री के अभाव से कभी धर्म अपना कारित्र करते है।

अतीत कालिक धर्म कारित्र के विषय में सौत्रान्तिक यह तर्क उपस्थित करते है कि उपरत कारित्र को अतीत कहते हैं। तब क्या अतीत का भी कोई अन्य कारित्र होता है, और उसका भी क्या अन्य कारित्र कहा जाएगा। यदि ऐसा होगा तब अनवस्था दोष ही प्रसक्त होगा! और यदि ऐसा नहीं है, अनागततादिकारित्र स्वरूप सत्तापेक्षा से ही होता है, तो भावों का भी अनागतत्व होगा, कारित्र की कल्पना का क्या फल होगा!

यदि अनागत कारित्र का लक्षण यह कहकर किया जाए कि इसके पूर्व जो हीं था वह अनागत अवस्था में कारित्र है तो कारित्र और धर्म के भेद से यही सिद्ध होगा कि अनागत धर्म कारित्र के पूर्व धर्म है वह अस्तित्व में नहीं था! और पूर्व में जो नहीं था वह अतीतावस्था कारित्र है। तब धर्म ही नहीं था यही कहना होगा क्योंकि धर्म और कारित्र का अनन्यभाव होने से और यदि अमूत्वा होकर होता है

---

9. आ. को. भा. पृ. 297

यह इच्छित नहीं होगा तो वर्तमानकारित्र ही सिद्ध नहीं होगा! होकर फिर नहीं होता है यदि यह अपेक्षित नहीं होगा तो अतीत अध्वा नहीं प्रमाणित होगा और अनागतवह जो अमूत्वा होकर नहीं होता। इस तरह वैभाषिक के त्रिकाल वस्तु के अस्तित्व के स्थापन के तर्कों को स्वयम् अपने नय से कहकर सौत्रन्तिक वादी अपने पक्ष को स्पष्ट करते हुए कहते है कि यह सब कथन पूर्वा पर कथनों की अपेक्षा से परस्पर विरूद्ध है! सर्वदा है और उत्पाद विनाश से युक्त है! यह अन्तर्विरोधी विचार है[10]।

पुनः वैभाषिकों पर आक्षेप किया जाता है कि जो प्रत्युत्पन्न धर्म का स्वभाव है यदि अतीत और अनागत धर्म का भी वही स्वभाव है तो उसी सद्स्वाभावी होने से यह धर्म अतीत अनागत कैसे होता है। इसके पूर्व क्या नहीं था जिसके अभाव मे इसे अनुत्पन्न कहेंगे पश्चात् क्या नहीं होगा जिसके अभाव में विरूद्ध कहा जाएगा। और इस तरह से यदि अमूत्वन्भाव, मूत्वान्भाव दृष्ट नहीं होगा तो धर्मो का अध्वत्रय सिद्ध करना कठिन हो जाएगा

इस आक्षेप के उत्तर में वैभाषिकों के 'संस्कृत लक्षण योगान्त शाश्वतत्प्रसङ्ग[11]' जैसे तर्क को भी सौत्रान्तिक बहुत उचित रीति से स्वीकार नहीं करते और यह कहते है कि संस्कृत लक्षण के योग से संस्कृत धर्मो का शाश्वत प्रसङ्ग नहीं होता यद्यपि उनका अतीत अनागत सद् भाव होता है, जैसे कथन केवल वाङ् मात्र है क्योंकि यदि धर्मो का सर्वकालिक अस्तित्व स्वीकार किया जाएगा तो उनके उत्पाद और विनाश की युक्ति को सिद्ध करना सम्भव होगा। यह धर्म नित्य भी है, सार्वकालिक

---

10. अ.स्फु. 05/ 27

11. अ. को. (शा), पृ. 810

अस्तित्व वाला भी है और इसका उत्पाद विनाश भी होता है, ये वचन परस्पर विरूद्ध अर्थ जनक हैं। इसलिये न के वल स्फुटार्थाकार का 'सर्वकालास्तित्वा दुत्पाद विनाश्योरयोग: तस्माद् वाङ् मात्र मेतत्' मत है। अपितु वसुबन्धु भी अपने भाष्य में यह कहते है कि हम भी अस्ति, अतीत, अनागत को कहते है। जो भूतपूर्व है यह अतीत है। जो हेतु प्रत्ययों से होगा वह अनागत होगा इस तरह अस्ति ही द्रव्यत: है, अतीत अनागत धर्म द्रव्यत: नहीं है।

''स्वभाव: सर्वदा चारित्रभावो नित्यश्च नेष्यते''[12]।

अनागत वस्तु के विद्यमानत्व पर अतीत प्रत्युत्पन्न सहकारी कारणों की सामग्री के परिग्रहण से शक्तिमात्र का आविर्भाव होता है।

जैसे तम के विद्यमान रहने पर घट रूप का प्रदीपादि कारण सामग्री से उद्भावन होता है। इसी तरह स्वभाव भाव से, अतीत अनागत द्रव्य का अस्तित्व प्रतिभावित है।

वैभाषिकों के इस सिद्धान्त पर भी सौत्रान्तिक अपना आक्षेव प्रस्तुत करते है और कहते है कि यदि वस्तु का अस्तित्व त्रिकाल में है तो उसका स्वभाव अतीत और अनागत कालिक कैसे होगा! क्योंकि भागवान ने 'अस्त्य तीतमस्त्यनागतम' वाक्य कहकर जो अतीत और अनागत कालिक अस्तित्व संकेत किया है उसमें अस्ति शब्द केवल नियातनात् ही प्रयुक्त है।

---

12. अ. को. (शा), पृ. 811

जैसा कि लोक व्यवहार में दीप का प्राक् अभाव है, और पश्चात् अभाव है आदि वाक्यों में अस्ति का प्रयोग है। अत: अस्ति का तात्पर्य अतीत अनागत अर्थ में नहीं है तो अतीत अनागत की सिद्धि ही नहीं होगी! इसी तरह यदि अतीत सिद्धि कैसे होगी क्योंकि भगवान बुद्ध ने स्वयं कहा है कि उत्पन्न होता हुआ चक्षु कही से आता नहीं है, निरूद्ध होता हुआ चक्षु कहीं संचित नहीं होता है। चक्षु का अभूत्वा भाव होता है और भूत्वा उत्पाद होता है। यदि अनागत चक्षु होता तब भगवान चक्षु के अभूत्वा भाव को नहीं कहते[13]। वैभाषिक इस सम्पूर्ण तर्क का उत्तर यह कहकर देता है कि अभूत्वा भाव जैसे बृद्ध वचन का तात्पर्य केवल इतना ही है कि वर्तमान अध्वा में अभूत्वा भाव है! अर्थात वर्तमान अर्थ में होकर होता है[14]। भगवान के कहने का केवल इतना ही तात्पर्य है। वस्तु के द्रव्यत: अतीत अनागत निषेध का उनका तात्पर्य नहीं है।

इस प्रकार वैभाषिक और सौत्रान्तिक भगवान बुद्ध के कथन को उनके उपदेशों को परम प्रमाणित रूप में स्वीकार करके वस्तु की अनित्य धर्मिता को स्वीकार करते है। पदार्थ विभाजन के रूप में जहाँ संस्कृत और असंस्कृत धर्मो के लक्षणों में यह समानता है कि हेतु प्रत्ययों से समुत्पन्न होने के कारण संस्कृत धर्म अनित्य और विनाशी है वही हेतु प्रत्ययों के उत्पन्न न होने के कारण असंस्कृत धर्म अनित्य और विनाशी है यही हेतु प्रत्ययों से उत्पन्न न होने के करण असंस्कृत धर्म नित्य तथा शाश्वत है। वस्तु की सत्ता को स्वीकार करने के कारण वैभाषिक और सौत्रान्तिक सर्वास्तिवादी ही कहे जाते है, और सत्ता की स्वीकृति के कारण इनमें परस्पर सम्बन्ध भी इसी अर्थ में रखा जा सकता है कि वस्तु सत्ता रूप में दोनों को स्वीकार है।

---

13. अ. ओ. (शा.) पृ. 811-813

14. वही पृ. 811

किन्तु वैभाषिकों अपने वस्तुत्पाद से अनित्यता और वस्तु की क्षणिकता संस्कृत पदार्थो के चार लक्षण विभाजित करते है! और उसी के कारण वे वस्तु का उत्पाद, स्थिति जरा और अनित्यभाव पृथक-पृथक क्षणों में द्रव्य रूप में मानते हैं इस तरह वैभाषिकों के वस्तु क्षण की स्थिति का योग भी हो जाता है। फल यह होता है कि काल के परिप्रेक्ष्य में वस्तु की सत्ता का अवलोकन करने पर उन्हें यह प्रतीत होता है कि वस्तु थी, है और होगी। अर्थात वस्तु का द्रव्यतः अस्तित्व त्रिकाल में है। इसलिए वैभाषिकों ने जब उत्पन्ति, स्थिति जरा और ह्रास क्रम वस्तु के लिये निर्धारित किया तो उन्होंने यह देखा कि कोई भी संस्कृत धर्म इन चार स्थितियों से वियुक्त नहीं है। जो इन चार स्थितियों से वियुक्त है, वह असंस्कृत धर्म है।

सौत्रान्तिक संस्कृत धर्मो का उत्पन्ति और विनाश के क्षण को अतिसूक्ष्म रूप से व्याख्यांकित करते है और वे यह मानते है कि संस्कृत धर्मो के उत्पाद और विनाश के बीच स्थिति क्षण की अपेक्षा नहीं है।

चतुर्थ अध्याय
(बौद्ध निकायों में अनात्मता)

(क) अनात्मता तथा स्थविरवाद

(ख) अनात्मवादी दृष्टि और वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक

(ग) माध्यमिक दृष्टि से पुद्गल नैरात्म और धर्मनैरात्म

(घ) पुद्गलनैरात्म्य तथा धर्म नैरात्म्य विज्ञानवादी दृष्टि से

चतुर्थ अध्याय
(बौद्ध निकायों में अनात्मता)

(क) अनात्मता तथा स्थविरवाद

त्रिपिटक तथा त्रिपिटकेतर पालि साहित्य का इसलिए अधिक महत्व हैंकि साहित्य में जहाँ एक और त्रिपिटक के रूप में भगवान के मूल वचन सुरक्षित हैं वही त्रिपिटकेतर पालि साहित्य में भगवान बुद्ध द्वारा कहे गए दार्शनिक दृष्टि का सर्वाङ्गीण विश्लेषण ओर परम्परागत विचारों का प्राचीनतम स्वरूप भी सुरक्षित है। साहित्य ओर दर्शन की दृष्टि से सम्भव ही किसी सम्प्रदाय का इतना प्राचीन सर्वाङ्गीण रूप सुरक्षित है।[1]

तीनों पिटक भगवान बुद्ध के उन प्रारम्भिक कथनों के सैंकलन का प्रतिनिधित्व करते है जिनमें मुख्य रूप से आज्ञा व्यवहार एवं परमार्थ की देशना हैं।[2] इस देशना से भगावान बुद्ध ने तब न तो कोई दाशनिक मार्ग ही इदमित्थ रूप में स्पष्ट किया था आसर न ही ऐसा करने का उनका अभिप्राय रहा होगा क्योंकि उन्होंने सामान्य रूप से अपने समक्ष उपस्थित प्रश्नों को उत्तरित किया और शासन तथा व्यवहार की दृष्टि से उसे लोकोपकारक दृष्टि से उपस्थित किया, यद्यपि अभिधर्मपिटक में परमार्थ देशना को महत्वपूर्ण स्थान मिला है जिसके अनुसार अहं और ममद्रष्टि का निषेध कर समस्त पदार्थ समूह की पंच स्कन्धात्मक रूप में कहा गया। बाद में अनुपिटक साहित्य अदकथाओं में भगवान बुद्ध के इन्ही प्ररम्भिक विचारी को दार्शनिक दृष्टि से स्थापित वैसे अभिधर्मपिटक भी उन्हीं सिद्धान्तों की प्रमुख रूप से रीतिबद्ध रूप प्रतिपादित किया। जिनके बीच सुत्तपिटक में उपलब्ध होते हैं।[3]

---

1. बौ. वि.ई. (पाण्डेय), पृ. 227
2. अ.शा., पृ. 18
3. बौ. वि.ई. (पाण्डेय), पृ. 234

इस तरहसे पालिसाहित्य के आधार पर ही स्थविरवाद परम्परा का जिसे विभज्यवादी भी कहा जाता हैं।[4] ज्ञान सम्भव है दार्शनिक विचार और आत्मा के अस्तित्व के प्रतिषेध के लिए तो अनुपिटक साहित्य तथा अदकथासाहित्य विचार पूर्वक एक वाद ही स्थापित करता है जिसे स्थविरवादी विचार कहा जाता हे और जो विचारधारा महासांधिकों सर्वास्ति वादियो तथा वात्सीपुत्रीयों के विरूद्व थी।[5]

बोधि प्राप्ति के अनन्तर लोक कल्याण की भावना से अभिप्रेरित होकर जब भगवान बुद्ध ने अपने अनूभूत ज्ञान को संसार के समक्ष उद्‌घाटित किया तो उनके समक्ष तत्कालीन सन्दर्भ में तथा पूर्व कालीन सन्दर्भ से जुडे कुछ ऐसे प्रश्न खडे किए गये जिनका न तो हाँ में उत्तर हैं। और न में उत्तर देना अपेक्षित था और न ही भगवान बुद्ध कर दृष्टि से वह जीवन की समस्या थी । फलतः जीव का विनाश होता है अथवा मृत्यु के पश्चात भी उसका अस्तित्व रहता है जैसे प्रश्नों का भगवान बुद्ध ने उत्तर न देकर जीवन की मूलभूत समस्या की और ध्यान आकृष्ट करते हुए यह पाया कि यह समग्र सेसार और इसमें मनुष्य का सम्पूर्ण अस्तित्व दुख पर खडा हुआ है मनुष्य जीवन जाति जरा शोक दुख दौर्भनस्यादि के कारण दुख रूप ही है । जहाँ न केवल जाति जरा मरण दुखरूप है अपितु अप्रिय सेयोग प्रिय वियोग इच्छित वस्तु की अप्राप्ति अनिच्छित वस्तु की प्राप्ति भी दुख हैं। इस प्रकार से भगवान बुद्ध ने पंच उपादानस्कन्धों की दुखात्मकता का प्रतिपादन किया और कहा कि संकिख्त्तेन पन्चुपादनक्खन्धा दुक्खा।[6] और इस प्रकार दुःखात्मक संसार की धरणा के साथ ही बुद्ध का सम्पूर्ण उपदेश पाँच स्कन्धों, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान पर आधारित होता है, क्योंकि उनकी दृष्टि से इस जगत् में यावत् व्यवहार होता है

4. अ.को.भा., पृ. 296

5. बौ. वि.ई. (पाण्डेय), पृ. 246

6. दी.नि. 2 (क.), पृ. 227

वही सभी व्यवहार इन्हीं पंचस्कन्धों को आधार बताकर ही होता है। अब जब उनके समक्ष आत्मा, जीव अथवा पुद्गल के सार्वकालिक अस्तित्व अथवा सर्वतोभावेन अनस्तित्व का प्रश्न उपस्थित किया जाता है तो वे इनके बीच का मार्ग ही श्रेय मानते है। आत्मा, जीव, कर्ता, भोक्ता के रूप में कोई ऐसा पंच स्कन्धातिरिक्त शाश्वत जीव है जो नित्य और कूटस्थ के रूप में सर्वत्र, सर्वदा प्राप्त हो ओर न ही सत्ता का नितान्त अभाव ही हो। बुद्ध की दृष्टि से तो जो रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न, आन्तरिक, बाह्य, हीन प्रणीत, दूर समीप है वे न मेरे है और न मै यह हूँ-ऐसा यथाभूत रूप में जानना चाहिए।

इन पंच स्कन्धों के सन्दर्भ में भगवान बुद्ध ने जाति और मरण का जो विशेष रूप से विश्लेषित किया उससे भी उनका यही उद्देश्य स्पष्ट होता है कि इस रीति से पंच स्कन्धों में आत्मा, तत्व, जीवादि की नित्य दृष्टि का प्रहाण हो। इसीलिये सत्यतः पुद्गल उपलब्ध होता है अथवा नहीं तो इसका स्पष्ट उत्तर यह कहकर दिया जाता है कि सत्यतः परमार्थतः जो पुद्गल उपलब्धि की प्रतीति है वह मिथ्या है"

"यो सच्चिक परमत्थो, ततो सो ष्पुग्गलो उपलब्धति सच्चिक परमत्थेना" ति मिच्छा[7]। केवल जैसे वृक्ष की उपादानता से छाया की प्रज्ञप्ति होती है उसी तरह रूपादि स्कन्धों की उपदानता से पुद्गल प्रज्ञप्ति होती है। यथार्थता में न तो वृक्ष की सततता का सार्वकालिक रूप से आख्यान किया जा सकता है और न उसकी छाया का। इसी तरह पंच स्कन्धों में जो आत्मा की प्रज्ञप्ति होती है तो न पंच स्कन्धों की

7. क. (क.), पृ. 3

सततता का सार्वकालिक आख्यान किया जा सकता है और न उन स्कन्धें में किऐ जा रहे आत्म व्यवहार का सार्वकालिक अस्तित्व है[8]।

भगवान बुद्ध के इन विचारो को दार्शनिक नय से अनुपिटक साहित्य और अट्ठ कथाओं ने एक विशेष दृष्टि के रूप में आत्मा, जीव और पुद्गल के अस्तित्व के विचार क्रम में विशेष चिन्तन और द्रष्टान्तों के आधार पर विकसित किया। ग्रीक सम्राट मेनाण्डर जो मिलिन्द के नाम से आख्यात हुआ और नागसेन के साथ किये गए प्रश्नों तथा प्रतिप्रश्नों मेंजिसने जीव, आत्मा तथा पुद्गल के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट की थी, अपने दृष्टिकोण का स्पष्ट स्वरूप समझाते हुये नागसेन नरेश की उपमा देकर कहा कि जैसे रथ के पहिए, ईषा, दण्ड, आदि की समन्विति ही रथ है उसी तरह केश, नख, माँस, मज्जा का पुञ्ज ही मनुष्य हैं। इसी पुन्ज में जो वस्तुतः पंच स्कन्धों का समूह मात्र है सत्य, जीव और पुद्गल का व्यवहार होता है। इन पंच स्कन्धों के अतिरिक्त आत्मादि कोई तत्व सत् नित्य रूप में नहीं है जिसे आदि, अनन्त और शाश्वत माना जाए। बुद्धघोष ने भी आत्मा के सार्वकालिक अस्तित्व का निषेध करने के लिए इसी रथ की उपमा को ग्रहण किया और यह कहा कि जैसे चलते रथ चक्र को प्रवर्तन नेमियों के एक-एक क्षण के स्थिर होने पर ही होता है, स्थिति भी नेमियों की स्थिति होती है, उसी तरह जीवन की सततता भी चित्तों को निरन्तर उत्पादन और विनाश के क्षर्णो की स्थिरवत् ज्ञात होती है[9]। यही कारण है कि अतीत चित्त क्षण "जीता है" व्यवहार पाता है वर्तमान चित्त क्षण जीता है और भविष्यत् चित्त क्षण का "जियेगा" व्यवहार होता है। इसी चित्त की सन्तानता में जीव, सत्व और पुद्गल की प्रज्ञप्ति होती है। जबकि नित्य, शाश्वत आत्मा का अस्तित्व वस्तुतः है नहीं।

---

8. वही, पृ. 15
9. यथा हि अडसम्भारा होति सन्तों रथांइति।

   एवं खन्येसु सन्तेसु होति सनतो ति सम्मुति।। मि.प्र., पृ. 30

इस प्रकार यह प्रतिपादित किये जाने पर कि पंच स्कन्धों की सन्तानता में ही आत्म व्यवहार होता है इन प्रश्नों का उठना भी स्वभावसिद्ध है कि फिर जन्म और मरण की कोटियों को कैसे सिद्ध किया जा सकेगा। यदि पंच-स्कन्धों के अतिरिक्त आत्मा, जीवादि नहीं है तो जन्म किसका होता है तथा मृत्यु किसकी होती है, क्योंकि जाति और मरण दिखाई देता है तथा भगवान बुद्ध ने भी इसका आख्यान किया है[10]।

मिलिन्द प्रश्न तथा अट्ठकथाकार इस प्रकार की शंका को यह कहकर समार्थित करते है कि जन्म लेने के लिए किसी जीव, आत्मा अथवा पुद्गल के कल्पित करने की न तो कोई आवश्यकता है और न आत्मा, जीव अथवा पुद्गल का जन्म हो सकता है। उदाहरण के रूप में दीपक का उदाहरण देते हुए नागसेन ने मिलिन्द को यह कहकर सन्तुष्ट किया था, कि एक दीपक से दूसरे दीपक को जलाया जाए तो क्या पहले दीपक की लौ दूसरे दीपक में प्रवेश करती है अथवा अध्यापक जब शिष्य को विद्यादान करता है तब क्या विद्या अध्यापक के मुख से निकल कर शिष्य के शरीर में प्रवेश करती है। यदि ऐसा नहीं होता और व्यवहार में यर्थाथ रूप में ऐसा देखा भी नहीं जाता तो आत्मा का एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करना सम्भव नहीं है। न तो कोई जन्म लेता और न आत्मादि का ऐसा कोई शाश्वत स्वरूप है जो एक शरीर से निकल कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता हो-एतदेव खो महाराज ने च संकमति पटिसन्दह ती''ति[11]।

---

10. दी.नि. 2 क पृ. 227

11. प.सूं. 1, पृ. 273

जहां तक मरण का प्रश्न है उसका भी यही समाधान है कि किसी जीव, आत्मा, पुद्गदि का मरण नहीं होता है जो पंच-स्कन्धों के अतिरिक्त सत्तात्मक रूप में हो, अपितु इन स्कन्धों का ही भेदन होता है और यही भेदित हो जाने पर सत्य, जीव, आत्मा, की मृत्यु का व्यवहार ज्ञापित करते है, क्योंकि स्कन्धों में ही आत्मा, जीव का व्यवहार देखा जाता है। इसलिए अट्ठकथाकार कहता है कि "परमत्थेन हि खन्धा मेव भिज्जजिन्त, न सन्तो नाम कोचि मरति, खन्धेसु पन भिज्जमानेसु सनतो मरति, भिन्धेसु मतो ति बोहारो'होति।[12]

स्थविरवादी दृष्टिकोण से जैसे जन्म मृत्यु की संज्ञा स्कन्धों के उपस्थापन पर ही आधारित है, उसी भांति चक्षु, श्रोत प्राणादि ही अपने-अपने विषय ग्रहण करने में समर्थ है। इन्द्रियादि के अतिरिक्त आत्मादि का आख्यान इसलिए नहीं करना चाहिए, क्योकि यदि इनके अतिरिक्त आत्मा का कर्ता के रूप में अस्तित्व होता है तो आंख के न होने पर भी वह रूप ग्रहण करता, सोत के न होने पर शब्द का जिव्हा के न होने पर रस का, प्राण न होने पर गन्ध का तथा काय न होने पर स्पर्श का ग्रहण करता किन्तु ऐसा दिखाई नही देता। व्यवहार रूप में जो इंद्रिय जिस विषय को ग्रहण करने में समर्थ है वही इन्द्रिय उस का विषय का ग्रहण करती है। यदि वह इन्द्रिय सक्षम नहीं है अपने विषय का ग्रहण करने में तो इन्द्रियातिरिक्त कोई अनुभव कर्ता नहीं है जो इन विषयों का ग्रहण करने में समर्थ होता हो। इसलिए यह सिद्ध ही हो जाता है कि पंच स्कन्धें में जिस आत्मा, जीव, पुरूष का कर्ता के रूप में व्यवहार होता है वह केवल व्यवहार मात्र के लिए ही। परमार्थ रूप में आत्मादि का अस्तित्व ज्ञापित करने के लिये नहीं। इसलिये नागसेन ने सम्राट मिलिन्द को यह स्पष्ट किया था कि "तेने हि महाराज भूतीस्मं जीवों नू पलब्भती" ति[13] और यदि यह तर्क

12. प.सू, 1, पृ. 273

13. मि.प., पृ. 90

देकर आत्मादि की सिद्धि की जाए कि प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण होता है जो कार्य को सम्पादित करता है तथा कार्य का नियन्ता होता है। तब इस दृष्टि से भी कार्य जगत् के लिए अथवा पंच स्कन्धों के कार्य के लिए आत्मा को कर्ता के रूप में स्वीकार करना इस दृष्टि से सम्भव नहीं है, क्योंकि एक आत्मा अथवा पुद्गल का दूसरा आत्मा और कर्ता मानना पड़ेगा। इस तरह उसका कर्ता अथवा नियन्ता किसी और आत्मा अथवा पुद्गल को तथा उसका भी किसी अन्य को कर्ता मानने का क्रम स्वीकार करना पड़ेगा। तअ एक ऐसी श्रखंला बन जायेगी कि जब एक कर्ता, आत्मा के लिए दूसरे कर्ता की कल्पना की जायेगी, जिसका कोई अन्त ही नहीं किया जा सकेगा। इसलिए कर्ता और कर्म अथवा क्रिया के आधार पर भी किसी ऐसी आत्मा की कल्पना का कोई फल नहीं है जो स्कन्धों से भिन्न है[14]। क्योंकि भगवान बुद्ध ने अविद्या प्रत्यय से संस्कार और संस्कारादि प्रत्ययों के हेतु से समस्त जगदत्पन्ति का आख्यान किया हैं, और अविद्यादि के निरोध समस्त संस्कादि का भी कथन किया है, जिससे समस्त उत्पत्ति-विनाश का क्रम प्रतीत्य समुत्पन्न है। किसी आत्मा, पुद्गल अथवा कर्ता के द्वारा उत्पन्न निरूद्ध नहीं है[15]।

अनिरूद्धाचार्य ने धर्मों के विभाजन की चार श्रेणियां दी है। वे समस्त धर्मो को चित्त, चैतैसिक, रूप और निर्वाण के क्रम में विभाजित करते है[16] और इस तरह वे चित्त को प्रमुख रूप से कहकर पावत्, व्यवहार और दृष्टि को चित्त मात्र ही मानते है। उदाहरण के तौर पर यह इस भांति से समझा जा सकता हैं कि जैसे किसी चित्र में नाना रूपों और विविध रंगो तथा चित्र-विचित्र लोगों का अंकन होता है और उनका प्रदर्शन किया जाता है उसी तरह देव, मनुष्य, तिर्यक गतियों में लिंग, कर्म, संज्ञा का व्यवहार चित्तकृत और चितमात्र ही होता है। चित्र की विविधता और

14. प.प.अ. 2, पृ. 34-35

15. खु.नि. (क), 563-64, बो.ध.इ. (पा.), पृ. 252-253

16. अ.सं., पृ.1

उसकी ही भिन्नता से भिन्न-भिन्न व्यवहार का आख्यान होता है[17]। इस तरह से समस्त व्यवहार चित्त की विविधता, चित्त की आश्रयता और चित्त के आख्यान से ही सम्भव हैं तब आत्मा, पुद्‌गल, जीव आदि की मान्यता का खण्डन स्पष्ट ही है। चित्तकृत व्यवहार में ही जीव और पुद्‌गल का व्यवहार होता है।

इतना ही अविधमान वस्तु में विद्यमान का व्यवहार और यह व्यवहार भी केवल व्यवहार मात्र के लिए जगत् के अनेक व्यवहारिक पदार्थो में दिखाई देता है। उदाहरण के तौर पर ''वृक्ष'' का व्यवहार को लिया जा सकता हैं। स्कंध, शाख पल्ल, पुष्प् फलादि का समूह वृक्ष का व्यवहार पाता हैं। सत् रूप में न तो वृक्ष का अस्तित्व है और न कोई आकार-प्रकार ही है। इसी तरह अंगुलियों के समूह को मुष्टि का व्यवहार दिया जाता है जबकि ''मुष्टि'' का अस्तित्व अंगुलियों के समूह के अतिरिक्त नहीं है। इसी प्रकार के अन्य अनेंको उदाहरणों से यह कहना संगत हो सकता है कि रूपादि स्कन्धों में आत्मा, जीव, पुद्‌गल का व्यवहार इसी तरह असत् व्यवहार है जैसा ''वृक्ष'' और ''मुष्टि'' का व्यवहार केवल व्यवहार ही है[18]।

किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि वृक्ष के स्कनध, पत्र, पुष्पादि अथवा अंगुष्ठादि अंगलियों में या कि जल, वायु आदि तत्वों में जीवादि की कल्पना की जा सकती है। इसके निराकरण के लिए भी मिलिनद के प्रश्नों को प्रत्युत्तरित करते हुए नागसेन ने कहा कि जल, वायु आदि तत्वों में भी जीवादि का अस्तित्व नहीं है। इनमें यदि ध्वनि और गति देखी जा सकती है तो वह प्रेरण से ही होता है। उदाहरण के लिए यदि जल को अग्नि में न रखा जाए, नगाडे को दण्ड द्वारा आधातित न किया जाए तो इसमें ध्वनी नहीं निकल सकती। यदि इनमें जीव, प्राण,

---

17. अ.सा., पृ. 54

18. वि.म.।, पृ. 419-420

आत्मादि का अस्तित्व होता तो स्वतः ही इनसे ध्वनी हो सकती थी, स्वतः ही ये निज कार्य में प्रवृत्त हो सकते थे किन्तु लोक और व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता, इसलिये इन पदार्थों में भी आत्मा और जीव के अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता है[19]।

इसी कारण से बुद्धघोष यह कहते है कि जब कोई सर्प को देखकर उसे जानता है तो वह उसके आश्रय को ही जानता है वस्तुतः सर्प रूप में किसी अस्तित्व का ज्ञान उसे नहीं होता। ठीक यही स्थिति पुरूष और आत्मा के ज्ञान की भी है। जब कोई किसी पुरूष और आत्मा को जानता है तब वह उसके नाम-रूप को जानता है और इस तरह वह स्कन्ध, महाभूत, धातुओं में ही आत्मा के ज्ञान का अभिनिवेश करता है[20]।

इस तरह से स्थविरवादी दृष्टिकोंण से आत्म-विचार का जो स्वरूप निर्धारित होता है, उसके अनुसार रूप वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के समूह में धातुओं और आयतनों की समन्विति में ही आत्मा के व्यवहार का सिद्धान्त स्थिर होता है। सत् रूप में, नित्य व्यापक और कूटस्थ रूप में किसी भी आत्मा के अस्थित्व का निषेध प्रतिफलित होता है, जैसा कि उपनिषदों की धारणा से सिद्ध होता था जिसके अनुसार आत्मा ही चराचर में व्याप्त और ध्रुव है[21]। आत्मा अथवा ब्रहम, जिसे उपनिषदें समस्त जगत् का कारण मानती है[22]। स्थविरवादियों की अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने में प्रत्येक कार्य का एक कारण और उस कारण मानने की एक

---

19. मि.प., पृ. 253-257
20. वि.म.।, पृ. 419
21. छा. 7/25/2
22. मुण्ड 1/1/7, 2/1/3

अव्यवस्थित श्रृंखला खड़ी हो जाएगी। इसलिए इस द र्शन की दृष्टि से पंच स्कन्धों, धातु, आयतनों में ही आत्मा का व्यवहार होता है और व्यवहार भिन्न-भिन्न रूप में चित्त की भिन्नता अथवा उसकी कृतता से चलता है। वस्तुतः आत्मा का कर्ता रूप में अस्तित्व नहीं है।

(ख) अनात्मवादी दृष्टि और वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक :-

पूर्व अध्याय में त्रिपिटक में आत्म विचार के सन्दर्भ में विविध सन्दर्भो और साक्ष्यों से यह स्पष्ट ही किया जा चुका है कि भगवान बृद्ध आत्म और अनात्म दृष्टि से किसी भी एक दृष्टि का इसलिये समर्थन नहीं करते थे क्योंकि आत्मदृष्टि का समर्थन करने से शाश्वतता की दृष्टि उत्पन्न होती है और अनात्मता की दृष्टि से उच्छेद की दृष्टि बनती है। फलतः बुद्ध इन दृष्टियों का निषेध कर स्वयम् को मध्यम मार्ग का प्रस्तोता कहते है और सभी वस्तुओं को पृथक-पृथक गिना कर संसार को दुःख कहते है जिसकी गणना पंच स्कन्धों में की जाती है। उनकी दृष्टि से रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञज्ञन ही समस्त प्रकार की आत्म दृष्टियों का कारण हैं। यही दृष्टि भगवान की दृष्टि की व्यापक और सत् दृष्टि है क्योंकि इसी से भगवान बुद्ध यह कह सके कि "जो करता वही भोगता है" शाश्वतवाद है तथा यह कहना कि कोई करता और अन्य भोगता है "उच्छेदवाद" है। तथागत इन दोनों अतिवादों को छोड़कर मध्य मार्ग बताते है, अविद्या के परिणाम से ही संस्कारादि होते है।[1]

कालक्रम से भगवान बुद्ध के विचारों से और उनके अनुभवों से प्रभावित होकर जिन्होंने इस बौद्ध धर्म को दर्शन के क्षेत्र मे स्थापित किया वे सभी किसी न किसी रूप में बुद्ध के इस मूल विचार से बंधे रहे। वैभाषिक जो बुद्ध की मूल विचार धारा में स्थविर वादियों से बहुत ही निकट के माने जा सकते है, पदार्थ की सत्ता का व्यवस्थापन कर उसमें आत्मा की द्रव्यतः अथवा प्रज्ञप्तितः प्राप्ति होती है या नहीं

---

1. अ. (क)2 पृ. 19-20

इस पर विवध दृष्टिकोण से विचार करते हैं।

यहां वैभाषिकों के आत्म-विचार की दृष्टि का पर्या लोचन करने के लिए संक्षेप में उनके द्वारा किए गए पदार्थो के विभाग का पुनरावलोकन करना इसलिये आवश्यक होगा, क्योंकि उनकी दृष्टि का यही पक्ष हैं कि पदार्थ समूह में ही आत्म प्रज्ञप्ति होती है। इस दृष्टि से वैभाषिक, संस्कृत तथा असंस्कृत धर्मो का विभाग करके स्कन्ध, आयतन और धातु के रूप में स्कन्धों का निरूपण तथा आकाश, प्रतिसंख्या निरोध एवं अप्रतीसंख्या के निरोध के रूप में असंस्कृत पदार्थो का निर्देश करते है। शाश्वत् संस्कृत धर्म ही निर्वाण में व्यवधायी होते है जबकि अवास्तवधर्म निर्वाण प्राप्ति के लिए अमला प्रज्ञा के रूप में धर्म कहें जाते है। इस विभाग में अपने विषय आलम्बन, क्रिया, विज्ञानान्तारों इत्यादि शक्ति के कारण विज्ञान का मन चित्त और विज्ञान की अस्ति, आसीत् अनागत संज्ञायें होती है[2]। इस कथन से ही वैभाषिकों का यह भी कथन होता है कि यह मन अथवा विज्ञान न तो नित्य क्रिया वाला है और न ही कोई नित्यकर्ता आत्मा है-तदेवं व्याचक्षणेन भवता नित्यं करणं मनो नित्यश्चात्मा कर्ता इति प्रतिशिद्धं भवति।[3]

इन सभी संस्कृत धर्मो के संग्रह में ही अथवा इस संग्रह को ही आत्मा मान लिया जाता हैं। इसमें स्कन्ध, आयतन और धातु का संग्रह आत्मा के नाम से स्मृत कर लिया जाता है क्योंकि आत्मा का नित्य ही अभाव है। कामोत्पत्ति को और उसकी चैतन्यता को भगवान बुद्ध के मूल वचनों के अनुरूप ही वैभाषिक यह कहते है कि गर्भावक्रान्ति के समय में षड् धातुयें मूल रूप से द्रव्यन्प्रज्ञप्ति उपादान होती है।

2. अ. दी. पृ. 7, वी.एम. (डी), 14/82

3. अ. दी., पृ. 8

इसमें से पृथ्वी, अप् तेज, वायु आदि द्वारा ही क्रम से अस्थि, रूधिर, क्लेद, प्रेरणा, प्रवेश-निष्क्रमण क्रिया का सम्पादन होता है। विज्ञान धातु से अंग-प्रत्यंग से सत्व द्रव्यतः उपचरित होता है।[4]

भूत के ग्रहण चक्षुरादिक इन्द्रियों तथा विज्ञान के ग्रहण से चित्त-चैतसादियों का ग्रहण होता है।

बौद्ध दृष्टि से न केवल स्कन्धातिरिक्त आत्मा का प्रतिषेध किया जाता है अपितु ईश्वरादिक ऐसे किसी भी तत्व का प्रतिषेध किया जाता है जिसे अन्य दार्शनिकों ने लोकादि के कारण के रूप में मान्य माना है। भगवान बुद्ध ने अंगुत्तर निकाम और सुत्ता निपात में चेतना की व्याख्या करते हुए चेतना को ही कर्म कहा है और यह बताया है कि चेतना से ही कर्म होता है। उसी कर्म से लोक, प्रज्ञा, कर्म-निबन्धित जीव रथ के ज्ञान की तरह ज्ञात होता है[5]। अभिधर्म कोशकार वसुबन्धु भी ''कर्मजं लोकवैचित्रयं चेतना तत्कृतं च तत्'' कहकर उसी कथन का समर्थन करते है कि कर्म से ही लोक विचित्रता और चेतना की कर्तता का बोध होता है[6]। कर्म का त्रिधा विभाग करते हुए उसे कायिक, वाचिक और चेतनाख्य अथवा मानसिक कहा गया हैं। और लौकवैचित्रय में ईश्वर, का पुरूष प्रधान की कारणता का निषेध किया गया है। इस तर्क में यह स्पष्टीकारण दिया गया कि यदि लोक की उत्पत्ति, स्थिति और प्रयल का कारण ईश्वरादि होता है तो इन कार्यो में एक दूसरे के स्वभाव के विरूद्ध कार्य होने पर भी तीनों कार्यो की एक साथ ही प्रवृत्ति होती। किन्तु ऐसा

---

4. अगु. (पा.टे.सो.) पृ.-176
5. अगु. 2, (पा.टे.सो.), पृ. 415, सन्तुनिपात पा.टे.सो.(पा.टे.सो.), पृ. 654
6. अ. बा. 4/1

दृष्ट नहीं होता इसलिए यह कारणता सत् नहीं है। साथ ही एक ईश्वरादि के कारण होने पर लोक वैचित्रय भी दिखाई न देता। इसलिये ईश्वरादि की कारणता का होना सम्भव नहीं है[7]।

अभिधर्म दीपाकार ने कहा है कि काम, वाक्, मनस, कर्म स्वयं कृत है। इनका कुशलत्व अकुशलत्व, अतीत और भविष्यत् फल ही कर्मो का कर्म स्वकता है। जहां तक नित्य कर्ता, भोक्ता और प्रतिक्षण संस्कारों की जड़ता होने पर कर्मकारिता का प्रश्न है उसमें भी किसी प्राकर के व्याख्यान का प्रश्न इसलिये नहीं उत्पन्न होता, क्योंकि शाश्वता आत्मा के होने पर पूर्व, पश्चात् के भाव के अभाव होने के कारण ही कर्तव्य और भोतृत्व की अवस्था नहीं स्थापित हो सकेगी। सांस्कृतिक रूप में स्कन्ध सन्तानता में ही उनकी क्रियाफलों के दर्शन से कर्ता, भोक्ता, शाश्वत् आत्मादि का निषेघ होता है। भगवान बुद्ध ने लोक की शून्यता का आख्यान करते हुए यह कहा है कि आत्मा और आत्मीय दृष्टि के अभाव के कारण ही लोक्शून्यता है[8]। और इस प्रकार से हेतु आदि करणों के सत्ज्ञान के अभाव में सत् शास्त्र श्रवण के अभाव से पन्चुपादन स्कन्धों के सत्काय दृष्टि उत्पन्न हो जाती है। इन पंच स्कन्धों में "अहम्" "मम" दृष्टि को ही सत्काय दृष्टि कहा गया है- अहंममेति या दृष्टिरसौ सत्काय हक् स्मृता। कात्यायनीपुत्र इस आत्म और आत्मीय दृष्टि को विशिष्ट कोटि करके बताते हैं। आत्म दृष्टि पांच है जो रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान में प्राप्ति होती है। इसी तरह रूपवान आत्मा है, रूप आत्मीय है आदि पन्द्रह दृष्टियों में भी होती है, जो सत्काय दृष्टि की परिभाषायें हैं। असंग ने स्कन्ध, धातु, आयतनों में में आत्मात्यीय भाव को ही शून्यता कहा है[9]।

---

7. अ.को., पृ. 119
8. एम. (आर.डी.), पी. 69
9. अ.दी., पृ. 229

सृष्टि के समस्त पदार्थो की जिनका किसी रूप में भाव है, किसी न किसी प्रमाण से प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है। आत्मा यदि पंचस्कन्धों, चित्त-चैतसिकों को अतिरिक्त किसी भी रूप में होता तो उसका प्रत्यक्षीकरण किसी न किसी प्रमाण से होना ही चाहिए था। जैसे लोक में प्रत्यक्ष पदार्थों की प्रतीति प्रत्यक्ष प्रमाण से और अनुमेय पदार्थो की प्रतीति अनुमान प्रमाण से होती है। इसी हेतु से जब वसुबन्धु आत्मतत्व के सम्बन्ध में विचार करते है तो वे उसे दो कोटियों में रखकर देखते है। उनकी एक कोटि है आत्मा आत्मा को द्रव्य रूप में परखने की है और दूसरी कोटि है प्रज्ञप्ति रूप में आत्मा को परखने की। और इस तरह वसूबन्धु यह कहते है कि यदि आत्मा को द्रव्य को परखने की। और इस तरह से वसुबन्धु यह कहते है कि यदि आत्मा को द्रव्य रूप में मानना होता है तो वह आत्मा स्कन्धों से इसलिए भिन्न हो जाएगा क्योंकि दृव्य स्वभाव से स्कन्धों का स्वभाव भिन्न होगा। यदि आत्मा प्रज्ञप्ति रूप है तब कुछ कहना नहीं है, क्योंकि प्राय: यह देखा जाता है या कि लौकिक व्यवहार होता है कि घट, पट, स्त्री, पुरूष का व्यवहार संवृति ग्रहण से ही प्रज्ञप्ति द्वारा होता है- ''प्रायेणा छटपट स्त्री पुरूषादि संवृतिग्रहणात्[10]।

जब वात्सी पुत्र आत्मा अथवा अथवा पुद्गल को द्रव्य और प्रज्ञप्ति से न भिन्न कहते और न अभिन्न और इसके समर्थन में वे ईधन तथा अग्नि का उदाहरण देकर यह बताते है कि लोक विश्वास से अग्नि न ईधन से अन्य है और न अनन्य। यदि अग्नि ईधन से अन्य होती तो पृथक-प्रदीप्त अग्नि होती यदि अनन्य होती तो ईधन ही कही जाती। इसी तरह यदि पुद्गल को द्रव्यत: और प्रज्ञप्तित: में दोनो कहा

---

10. अ.को.भा.,पृ. 392

जाएगा तब ठीक नहीं होगा और यदि दोनों से भिन्न कहा जाएगा तो भी ठीक नहीं होगा। पुद्गल स्कन्धों से न अन्य है और न अनन्य। अगर उसे स्कन्धों से अन्य माना जायेगा तो शाश्वता का अभिनिवेश हो सकता है और यदि स्कन्धों से अनन्य पुद्गल होगा तो वह उच्छेद धर्मी हो सकता हैं। इसलिये पुद्गल उभय भिन्न और अभय अभिन्न ही हो सकता। यहां चेरवात्स्की की इस टिप्पणी की ओर भी ध्यान देना उचित होगा जिसमें वे यह कहते है कि वात्सीपुत्रीय पुद्गलवादी है आत्मवादी नहीं, जबकि वसुबन्धु आत्मा और वात्सीपुत्रियों के पुद्गज में अभेद मानकर ही सम्पूर्ण विचार करते है[11]।

ईधन और अग्नि के इस उदाहरण को लेकर वसुबन्धु ने अनेकों तर्क किए। उनका प्रतिप्रश्न इस प्रकार हुआ कि यदि दाहक अग्नि और दाह्य ईधन है तो इन दोनों के भेद को ठीक समझा होगा तथा लोक की इस धारणा को मानना पड़ेगा कि काष्ठादिक दाह्क ईधन है तथा प्रदीप्त अग्नि है, दाहक है। अग्नि की उष्णता, भास्वरता ही दाहित करती है। जबकि ईधन के प्रतीत्य से ही अग्नि उत्पाद होता है।साथ ही ईधन और अग्नि भिन्न काल का भी ज्ञान होता है। यदि पुद्गल का स्कन्धों से यही सम्बन्ध है और पुद्गल स्कन्धों को कारणता से उत्पन्न होगा तो वह स्कन्धातिरिक्त होते हुए भी अनित्य और क्षणिक होगा[12]।

अब वसुबन्धु का यह प्रश्न है कि पुद्गल का ज्ञान कैसे होता है क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ के ज्ञान का क्रम बौद्ध विचारों में विज्ञान लम्बित है जैसे चक्षु विंज्ञान से रूप की उपलब्धि होती है। जैसा चक्षु विंज्ञान से प्रथम क्षण में क्षीर की उपलब्धि होती है और अपर क्षण में रस, गन्धादि की प्रतीति होती है। इसलिए अन्य पदार्थ

---

11. एस.टी.बी., पृ. 90
12. अ.को.भा., पृ. 462

का ज्ञान क्रम है। यदि पुद्गल का ज्ञान विज्ञान लम्बित है, विज्ञान प्रत्ययाधारिता है तो वह प्रज्ञप्ति सत् ही हो सकता है, वस्तु सत् नहीं, क्योंकि रूप क्षीरादि वस्तुसत् नहीं, पृथिवी, वायु, तेज आकाशादि की प्रज्ञप्तिमात्र हैं। और यदि यह कहा जाय कि पुद्गल विज्ञान प्रत्यय से ज्ञेय नहीं है तिो उसके अस्तित्व का ही साधन नहीं हो सकेगा। इस प्रकार से यदि पुद्गल विज्ञान-प्रत्यय ज्ञेय है तो वस्तुसत् के रूप में अन्य पदार्थो की तरह सिद्ध नहीं हो सकता और यदि पुद्गल विज्ञान-प्रत्यय ज्ञेय नहीं है तो उसका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकता और यदि पुद्गल विज्ञान प्रत्यय से ज्ञेय नहीं है तो उसका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकता और पुद्गल विज्ञान प्रत्यय से ज्ञेय नहीं है तो उसका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसलिये जैसे रूपादि ही क्षीर, उदक आदि ही प्रज्ञप्ति का ज्ञान कराता है। उसी तरह समस्त स्कन्धों की प्रज्ञप्ति से ही पुद्गल ज्ञान होता है- ''अतो यथा रूपादीन्येन क्षीरमुदकं वा प्रज्ञप्यते समस्तान्येव स्कन्धाः पुदगल इति सिद्धम्[13]''

यदि पुदगल को धर्म माना जायेगा तो उसका नित्यत्व अस्तित्व खण्डित हो जायेगा क्योंकि धर्मो की नित्यता सिद्ध नहीं की जा सकती है और यदि धर्मातिरिक्त माना जाएगा तो धर्मातिरिक्त किसी तत्व का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता है-नैवहि पुद्गलो धर्म उच्यतेनाप्यन्यो धर्मादिति[14]।

धर्मो में नित्यता और आत्मा की भावना का भगवान बुद्ध ने यह कहकर उपदेश किया कि सभी धर्म अनित्य है, अनात्म है, जब प्रज्ञा से इनका साक्षात् किया जाता है[15]। इसलिये अभिधर्मकोशकार सूत्र वचनों का उदाहरण देकर अनात्मता में

---

13. अ.को.भा. पृ. 563
14. अ.को.भा. पृ. 467
15. खु.नि.1(क.), पृ. 43

आत्मदृष्टि विपर्यास कहकर अपने को बुद्ध के मूल वचनों के साथ जोड़ देते है, और कहते है कि पंच स्कन्धों में रूपादि में यदि रूपादि में यदि आत्मा अथवा पुद्गल की दृष्टि होगी तो सत्काम दृष्टि का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। इसलिये जैसा निरन्तर प्रवहमान धारा में जल की प्रज्ञप्ति होती है, अन्न के दानों के ढ़ेर में जैसे राशि की प्रज्ञप्ति होती है वैसे ही पंच स्कन्धों में आत्मा की प्रज्ञप्ति होती है "तस्मात् प्रज्ञप्तिसत्पुद्गलो राशिधारावत्"[16]।

वसुबन्धु की इस सिद्धि और यह स्वीकार करने के बाद ही धर्म समूह की सन्तानता में ही पुद्गल प्रज्ञप्ति होती है। वात्सी पुत्रियों की यह शंका होती है कि यदि धर्म समूहों की सन्तानता क्षण-क्षण परिवर्तनशीलता में आत्म-प्रज्ञप्ति होती है तो फिर बुद्ध की सर्वज्ञता का आख्यान करना कैसे सम्भव हो सकेगा। क्योंकि क्षण में उत्पाद, स्थिति, जरा और अनित्यता स्वभावी धर्मो को जानना और उनके सर्वज्ञता का भाव होने ही सम्भव न हो सकेगा। कोई भी चित्त चैतसिक ऐसा नहीं होगा जिसमें सर्वज्ञता का आधार न हो सकेगा। वसुबन्धु इसका भी बड़ी गम्भीरता और वैदुष्यभाव से प्रत्युत्तर देते है और अपना पक्ष उपस्थित करते हुए कहते है कि हम सर्वत्र ज्ञान के सम्मुख्य से बुद्ध को सर्वज्ञ नहीं कहते अपितु बुद्धख्य संतित के इस सामर्थ्य का आख्यान करते है जो वस्तु के वर्तमान काल मात्र में क्षण में अविपरीत ज्ञान का सामर्थ्य रखती है "नैव च वयं सर्वत्र ज्ञानमंमुखी भावाद् बुद्धं सर्वज्ञमाचक्ष्म है[17]।

---

16. अ.को.मा.,पृ. 467

17. वही, पृ. 467

स्कन्ध राशि ही निरन्तर सन्ततिशील रहती है इसका ज्ञान यथार्थ रूप में उसी तरह नहीं हो पाता जैसे अग्नि वन का दाह करती है वह प्रत्येग क्षण-क्षण में एक स्थान से दूसरे स्थान को संचारित होती जाती है, जबकि लोक में व्यवहार यही होता है कि अग्नि संसरण कर रहा है। यह स्पष्ट है कि अग्नि, जो प्रज्ञप्ति सत् ही है, संसरण नहीं करती अपितु उसके क्षण ही निरन्तर संसरण करते है। इसी तरह स्कन्ध समूह ही निरन्तर परिवर्तनशील होते हुए क्षण-क्षण संसरण करते हैं। किन्तु इन्हीं में पुद्गल अथवा आत्मा के संसरण का व्यवहार किया जाता है। बुद्ध की सर्वज्ञता का भी यही अभिप्राय है कि उनका एक क्षण का चित्त सर्वाज्ञान करने में समर्थ होता है।

चित्तो की क्षणिकता और अविपारिणामिता होने पर स्मृति की सातत्यता का अनुभव कैसे होगा। क्योंकि प्रत्यक्षतः और अनुभव गम्यता से यह देखा जा सकता है। कि पूर्वानुभूत विषयों का पश्चात्काल में भी बहुत समय तक स्मरण रहता हैं। यदि इस प्रकार की स्मृति को स्मरण करने वाला चित्त ही क्षण-क्षण परिमामी है तो पूर्वापर स्मृति के सम्बन्ध स्थापित करने में कछिनता स्वाभाविक हैं। वसुबन्धु ने इसका समाधान करने का प्रयत्न किया और यह मत उपस्थित करने का प्रयत्न किया कि पूर्वचित्त स्मृति-विशेष का अनुभव करके ही अपरचित का उत्पाद करता है, क्योंकि दोनों ही एक सन्तान के चित्त हैं। अर्थात स्मरण चित्र दर्शन-चित्र से उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार से क्रिया की अपेक्षा क्रियाकारक की कल्पना का भी निषेध इसलिये किया जा सकता है कि प्रति धर्म का प्रतिक्षण में निरन्तर परिवर्तन की

सन्तानता ही क्रिया हैं। इस क्रिया में ही क्षणिक संस्कारों की सन्तानता से एक सत्व पिण्डादि के ग्राह से देवदत्तादि का ग्रहण कर लिया जाता हैं जब कि देवदत्तादि के रूप में किसी पुरूष विशेष का आख्यान किया ही नहीं जा सकता, तो कर्ता और क्रिया सम्पादन का आधार हो। एक देश से दूसरे देश की काल भिन्नता में सन्तति के प्रवाह को ही देवदत्त की क्रिया मानना ही सत्य है। अभिधर्म दीप के पुरूष परमेष्ठि अथवा ईश्वरादि का कर्ता के रूप में निषेध कर संस्कारों की परतंत्रता का आख्यान किया गया है क्योंकि ये संस्कार स्वभाव लक्षण और स्वभावधिष्ठित होने से परतंत्र है, इनकी उत्पत्ति हेतु प्रत्ययों के अधीन है। इसलिए कर्ता, अधिष्ठाता का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता है।

अन्तत: आत्मा के न होने पर कर्मोत्पत्ति और उसके भोक्ता के विष्य में स्पष्ट व्यवस्था देते हुये वसुबन्धु यह कहते है कि विनष्ट कर्म से फलोत्पत्ति का आख्यान नहीं करते, क्योंकि बीज के विनष्ट हो जाने पर फल नहीं उत्पन्न होता अपितु बीज के अंकुर, पत्रादि के क्रम में फलोत्पत्ति का क्रम है। इस क्रम में फल तक जो सन्तानता है वह न तो बीज के नष्ट होने पर फल की उत्पत्ति सिद्ध करती है और न फल से बीज की पृथकता। यदि बीज से पृथक होता तो फल उत्पन्न करने की उसमें शक्ति न होती और यदि बीज ही फल होता तो फलोत्पत्ति का क्रम ही नहीं बनता। इसी कर्म फल का भी यह आख्यान किया जा सकता हैं कि जो पूर्व कर्म है वह उत्तरोत्तर प्रस्तावित चित्त की संतति से अन्यथोत्पत्ति का परिणाम है और इस प्रकार स्वत: आत्मा, ईश्वरादिक निरास होता है, जिसे कर्तत्व और भोक्तृत्व की अपेक्षा हो[18]।

---

18. अ.को.भा., पृ. 477

इसलिये सौत्रान्तिक सांख्य की प्रकृति की भांति ऐसे किसी कारण का निषेध करते है जो सर्वथा एक रूप रहकर कार्य उत्पन्न करता हो। वे कहते है कि आहार शरीरोत्पादन में समर्थ है। आहार समुदाय से काम से काम समुदाय उत्पन्न हो सकता है रसादि के परिणाम के योग से उसी तरह बीजादि भी अंकुरित के उत्पादन में समर्थ है। यदि ऐसा न होता तो एक कारण से युगवत् ही सभी कार्यो की उत्पत्ति सम्भव होती पर सभी कार्य की युगयत् उत्तपत्ति देखी नहीं जाती। प्रत्यय सामग्री के अभाव में कर्ता के स्वतंत्र न होने से ही प्राणातिपात होता है[19]।

सौत्रान्तिक दृष्टि से आत्म दृष्टि का विचार करने के लिए अभिधर्मकोश तथा स्फुरार्था का आश्रय ही मुख्य हो सकता है, क्योंकि सौत्रान्तिक आचार्यो की दृष्टि का विवेचन इसके आधार पर ही किया जा सकता है वैसे भगवान बुद्ध के वचनों को सभी परवर्ती आचार्यो ने अपने कथन की सिद्धि के लिये प्रमाण मानने की प्रतिज्ञा की है और उसी आधार बनाकर दृष्टि भेद के बाद के अपने विचारों को स्थापित किया हैं। अतएवं वैभाषिक और सौत्रान्तिक दृष्टि से आत्मा को शाश्वत पदार्थ के रूप में निषिद्ध किया गया है और पंच स्कन्धों में ही आत्मा की प्रज्ञप्ति की बात को स्वीकार किया गया है। इस हेतु में कारण देते हुए यह बताया गया है कि स्कन्ध की पुद्गल व्यवहार्य है, यह अनन्य रूप से सिद्ध होता है क्योंकि जैसे इंधन को लेकर ही अग्नि की प्रज्ञप्ति होती है वैसे ही स्कन्धों को लेकर ही आत्मा की प्रज्ञप्ति होती है। यदि आत्मा स्कन्ध के अतिरिक्त अन्य होता तो वह कथनीय ही नहीं हो सकता। इसीलिये स्कन्धों की हेतुता से ही पुद्गल प्रतीति होती है और स्कन्ध ही पुद्गल रूप में व्यवहार्य होते है[20]।

---

19. स्फु., पृ 116, 171, 172

20. अ.को.भा. 463

समस्त जगत ही पदार्थात्मक सत्ता का विवेचन करते हुए जब सौत्रान्तिक स्कन्ध, आयतन और धातु के रूप में उसे देखते है तब वैभाषिकों की दृष्टि से उनका इस दृष्टि कोण से भेद होता है, जिसमें सौत्रान्तिक पदार्थो की उत्पत्ति, स्थिति, जरा और अनित्यता के लक्षण का निषेद कर कहते है-भंगशीलत्वात् स्वयं विनश्यन्तोंऽन्येनाजनितविनाशा:[21]।

और उनकी इसी भेद दृष्टि से जब वे स्कन्धों में आत्मा व्यवहार की यथार्थता कहना चाहते है तो यह कहते है कि क्षण के अनन्तर क्षण विनाशी पदार्थो में ही आत्मा लाभ होता है। आत्मादि के अस्तित्व को कारण नहीं - ''आत्मलाभोऽनन्तरविनाशीति। क्षणस्यानन्तरक्षण दति नेरूक्तेन विधिना आत्मलाभः। अनन्तर विनाशी क्षणशब्देनाभिधीयते[22]''

अपने इस दृष्टिकोण को विस्तार से आख्यान करते हुए जन्म, जरा और मरण की स्थिति के स्पष्टीकारण में यह कहा गया कि अनागत् जन्म जाति है, वह नाम और रूप स्वभाव के पंच स्कन्धात्मक है। पलितत्व भाव, जरा और उन सत्वों का उस जाति च्युत होना मरण है। इस तर यह जाति, जरा और मरण ही आत्म-रहितता घोषित करता है। पदार्थो अथवा स्कन्धों का यही क्षण क्षणोत्पाद विनाश क्रम ही अपनी अविच्छिन्न सन्तानता में आत्मा का उसे शुभ और अशुभ फल धारित्व का व्यवहार होता है। उस स्कन्ध-सन्तानता में जीव, आत्मा में जीव, आत्मा की आख्या नहीं हो सकती है, क्योंकि जीव, आत्मा के नास्तित्व की देशना की गई है।

---

21. अ.स्फु. 4/3
22. अ. स्फु. 4/2

कर्ता और फलभोक्ता के असित्व का जैसे वैभाषिक यह कहकर निषेध करते है कि काम, वाक् मनस्, कर्म स्वयंकृत है। इनका कुशलत्व, अकुशलत्व अतीत और भविष्यत् फल ही कर्मो की कर्म स्वकता है, उसी तरह स्फुरार्थीकार ने काम, वाक् कर्मो को स्वभाव से चेतनाधर्मी कहा हैं। चेतना के वहन से ही कर्म चलते है-चेतनाख्यस्य कर्मणः पन्थानः। कथम्। तत्सम्प्रयोगिणी हि चेतना। अभिध्यादिसम्प्रयोगिणी। तेषामभिध्यादीनां वाहेन गत्याा वहति गच्छातीत्पर्थः[23]। कर्मो की इस चेतना चालित गति के कारण ही यह स्वयम् प्रतीति होने लगती है कि कर्मो के कर्ता, भोक्ता के रूप में आत्मादि की व्यवस्था का औचित्य प्रतिपादित नहीं किया जा सकता है।

सौत्रान्तिकों की क्षण सन्तानता में आत्म-व्यवहार की दृष्टि का निषेध करने के लिए यहां दृष्टान्त दोहराया जा सकते है जिनमें यह कहा गया गया है कि देवदत्त जाता है। इस वाग् व्यवहार में देवदत्त वस्तुतः व्यवहार मात्र हैं। क्योंकि क्षणिक संस्कार सन्तानता की अभिन्नता से देवदत्ता की संज्ञा पाते है। बालजनों की अज्ञबुद्धि के कारण एक देख दूसरे देश में क्षणिक संस्कारों का निरन्तर उत्पाद ही गमन् क्रिया हैं। विज्ञानात्मिका-ज्ञान के कारण से देवदत्त और उसकी गमन क्रिया का व्यवहार होता है वस्तुतः देवदत्त नामक किसी पुरूष अथवा जीव का अस्तित्व नहीं है[24]।

तब इस तरह से स्कन्धों में ही पुद्गल आख्यान होता है, क्योंकि रूपादि से चक्षुर्भिज्ञानादि के द्वारा स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतनादि के कारण स्कन्धों और चक्षुरिन्द्रियों के समूह में मनुष्य का व्यवहार होता है। इसी में जीव, पुरूष, पुद्गल, सत्यादि के

---

23. अ.री. पृ. 229

24. अ.को.भ. पृ. 473

व्यवहार से यह ज्ञान होता है। इसी मैं जीव, पुरूष, पुद्गल, सत्पादि के व्यवहार से यह होता है कि मैने चक्षुओं से रूप देखा। इसी तरह आपका यह नाम है, यह गोत्र हैं, यह आयु हैं, इस प्रकार के सुख-दुःख का अनुभव होता है। किन्तु से भी व्यवहार मात्र है, क्योंकि सभी धर्म अनित्व और प्रतीत्य समुत्पन्न हैं। इसमें नित्य और अविपरिणामी आत्मा का अस्तित्व सम्भव नहीं हैं।

इस प्रकार से वैभाषिकों की दृष्टि में आत्मा के अस्तित्व और कर्त्तव्य के सम्बन्ध में जैसा आख्यान किया गया है उसके अनुसार यह दिखाई देता है कि पंचस्कन्धों, आयतनों और धातुओं में ही पुद्गल और सत्व की प्रतीति होती है। यह प्रतीति उसी भांति लोक व्यवहार में होने वाली प्रतीति हैं। जैसे छट, पट, नदी और राशि के द्वव्य परमाणु के समूह के अतिरिक्त घटत्व, यटतव आदि होता नहीं है।

वसुबन्धु ही ने नहीं अन्य विचारकों कात्यायनी पुत्र, अभिधर्मदीपकार ने भी विविधि उदाहरण और साक्ष्य देकर आत्मा और कर्ता, भोक्ता के रूप में किसी जीव, सत्व, पुरूष, पुद्गज का निषेध किया हैं।

हम यह देख चुके है कि भगवान बुद्ध के मूलवचन त्रिपिटक में ऐसे अनेक कथन है जिनसे भगवान की इस धारणा को स्पष्ट किया जा सका है। कि पंच-स्कन्धों में ही आत्मा का व्यवहार होता है। वस्तुतः स्कन्धों के अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व नहीं है। वैभाषिक ने पंच स्कन्धों के अतिरिक्त पदार्थ समूह का चित्त चैतसिक रूप में सूक्ष्म विभाजन कर सम्पूर्ण धर्म समूह में उनकी उत्पत्ति, स्थिति, जरा

और अनित्यता की सानन्तरता की प्रज्ञप्ति में आत्मा के व्यवहार का कथन किया हैं पदार्थसत् के रूप में आत्मा का निषेध किया हैं

सौत्रान्तिकों की दृष्टि से आत्मा का अस्तित्व पदार्थ रूप में नहीं है। वस्तुतः पदार्थो की क्षणिक सन्तानता में आत्मा का व्यवहार किया जाता है। इसके लिए वे अग्नि शिखा की क्षणिक किन्तु निरनतर जलती शिखा का उदाहरण भी देते है जिससे वे यह सिद्ध करना चाहते है कि जैसे अग्नि का व्यवहार केवल निरन्तर शिक्षा के क्षणिक प्रवाह में होता है उसी तरह पदार्थो के सन्तान क्षणिक प्रवाह में आत्मा का व्यवहार होता है। वस्तुतः आत्मा, पुद्गल, जीव अथवा सत्व पारमार्थिक रूप में प्राप्त नहीं होता। इस सबके बावजूद रीजडेविड्स की इस धारणा को भी उद्घृत किया जा सकता है कि बुद्ध के उपदेशों में पुद्गल की वास्तविकता का हनन नहीं किया गया था[25]। क्योंकि स्थिर लगने वाले पर्वत आदि ही वास्तविक नहीं होते। सतत बढ़ती हुई नहीं अथवा जलती शिखा की सानन्तरता में भी यथार्थता और स्थिरता का अनुभव किया जा सकता है[26]।

---

25. बुद्विज्म एण्ड दि निगेटिब (ज.पा.टै.सो.1915-16) पृ. 241

26 अ.बो.द., पृ. 92

(ग) माध्यमिक दृष्टि से पुद्गल नैरात्म और धर्मनैरात्म :-

यद्यपि भगवान बुद्ध की समस्त देशना का उद्देश्य जगत् के प्राणियों के दुःख निराकरण के लिए था किन्तु उस देशना में विभिन्न स्थानों, व्यक्तियों के विभिन्न आशयों, विभिन्न कालों के कारण उसमें विविधता भी थी, जिससे कालान्तर में उनके मौलिक विचारों अनेक दिशाओं में अनेक सम्प्रदायों में बँट गए और उनमें वाद-प्रतिवाद उठ खड़े हुए। अब इसमें अधिक मतभेद नहीं रह गया कि भगवान बुद्ध ने राजगृह में गृहकूट पर्वत पर जो उपदेश दिया था वह महायान का उपदेश था और नागार्जुन के बाद में भगवान के उन्ही उपदेदशों को प्रकाशित किया[1]। महायान में माध्यमिक नय का प्रकाश करने वाले नागार्जुन को यह तर्क सन्तुष्ट नहीं कर सका कि भगवान बुद्ध ने जिस दुःखता के निरोध को सत्य के रूप में कहा है उसका लक्ष्य केवल व्यक्ति विशेष के दुःख से मुक्ति का लक्ष्य है। इसलिये वे भगवान् बुद्ध के कथनों और उपदेशों का जब सार्वभौमिक दृष्टि से सर्वजगत् के प्राणियों के दुःख निवारण की दृष्टि से आख्यान करते है तब वे दो प्रकार की विधि से भगवान् के कथनों को समझने का प्रयत्न करते हैं। उनकी यह विधिनीतार्थ और नेयार्थ के द्वारा वे बुद्ध के अभिप्राय और उसक गूढ़ार्थ को समझने का प्रयत्न करते है[2]। क्योंकि समाधिराज सूत्रमें नीतार्थ और नेयार्थ का जिक्र करते हुये यह कहा गया है कि सुगत की शून्यता के उपदेश को यथोपदिष्ट रूप में नीतार्थ सूत्रों से जानता है किन्तु पुद्गल तथा सर्वधर्म शून्यता नेयार्थ से जानता है[3]। इस तरह माध्यमिक भगवान् बुद्ध के उपदेशों का आख्यान नेयार्थ विधि से करने का उपक्रम करते हैं तब न केवल उन्हें रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्धों की निः स्वभावता का ज्ञान होता है अपितु

---

1. इ.आर.इ. 8 पृ. 335 भा.बौ.इ. (लाना), पृ. 41
2. एम.डी.पी.ग्रन्थें प्रो. ज. उपाध्यायस्यनिबन्ध
3. स.सू. 7/5

इस भांति वे संस्कृत-असंस्कृत धर्मो में भी स्वभावशून्या की दृष्टि रखते है। पंच स्कन्धों में पुद्गल की प्रज्ञप्ति का निषेध कर पुद्गल नैरात्म की सिद्धि के लिए यह तर्क देते है कि स्कन्धों को लेकर व्यक्ति अंह तथामम वृत्ति में प्रवर्तित होता है जबकि वस्तुतः दर्पण में देखे गए प्रतिबिम्ब की भांति वह कुछ भी नहीं है-

अहंकारसतथा स्कन्धनुपादायोपलम्यते।
न कश्चिन्सतत्वेन स्वमुखप्रतिबिम्वत्।।[4]

आगे रत्नावलीकार यह भी कहता है कि जैसे मृगमारीचिका का जल दूर के दिखाई देता है जबकि अर्थतः वहां जल नहीं होता है वैसे ही स्कन्ध और आत्मा अर्थतः अनुलब्ध है[5]। यह आत्म निषेध उन्हें केवल स्कन्धों में ही नहीं प्रतीत होता अपितु माध्यमिक सर्वधर्मो में भी आत्मा का कोई रूप नहीं देखते, क्योंकि वे यह कहते है कि भगवान बुद्ध ने सभी धर्मो में आत्मा का निषेध किया है तथा षड्धातु के साथ इसका निर्णय किया है कि अर्थतः इनका कोई रूप नहीं है। इस प्रकार जहां हीनयानियाँ की दृष्टि से क्लेश, सत्कायदृष्टिमूलक, सत्कायदृष्टि समुदयक, सत्कायदृष्टिहेतुक सूत्र में कहे गए है तथा पुद्गल नैरात्यय की दृष्टि से क्लेशावरणों का क्षय होता है[6]। और अर्हत्व की प्राप्ति होती है वहीं धर्म नैरात्यय से शून्यता के बोध से ज्ञेयावरण का क्षय होकर सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है।

जैसा कि स्वभाववादिया की दृष्टि से आत्म परीक्षण के क्रम में हम देख चुके है कि आत्मा का शाश्वत, चेतना और सर्वव्यापक रूप उन्हें भी अभीष्ट नहीं है वैसे

---

4. र.,पृ. 298
5. वही., पृ. 299
6. वही, पृ. 30

ही माध्यमिक नय के स्थापकों और प्रचारकों में आत्मा की किसी भी प्रकार की प्राप्ति में विश्वास नहीं है। धर्म और धर्मी के भेद से नैरात्म की परीक्षा दो प्रकार से करते है, धर्म नैरात्म और पुद्गल नैरात्म में भेद से- ''नैरात्म द्विविधं। तद्यथा। धर्म नैरात्मयं पुद्गल नैरात्मञ्च[7]'' माध्यमिकों की नैरात्म्य दृष्टि के विचार का एक यह भी कारण है कि उनकी दृष्टि से वस्तुओं का स्ववश स्वभाव नहीं हैं, इसलिये स्वभावतः वे किसी भी प्रकार से विद्यमान नहीं है तब इन धर्मो में आत्मा-आत्मीय दृष्टि असत् हैं, मिथ्या है। इसी तरह जब धर्मो की सत्ता ही नहीं है तब उनके समूह में पुद्गल में आत्मा-आत्मीय का भाव भी सत् नहीं है, विचार्य नहीं है। यही कारण है कि माध्यमिक पुद्गल में और धर्मो में आत्मा के अस्तित्व का प्रतिषेध कर पुद्गल और धर्म नैरात्म्य की स्थापना करते है।

नागार्जुन सर्वप्रथम यह उपक्रम करते है कि पहले वे पुद्गलवादियों के उस पुद्गल तत्व के स्वीकार का खण्डन करें जिसमें वे पुद्गल की कल्पना शुभाशुभ कर्म के कर्ता और उसके भोक्ता के रूप में करते है और यह तर्क देते है कि पूर्व स्कन्धों की परित्याग और अपर स्कन्धों पादान से यह संसरण कर्ता है तथा फल का भोक्ता है[8]।

माध्यमिक शास्त्रकार इस सम्बन्ध में समाधान करते हुये यह कहते कि यदि स्कन्ध, आयतन और धातुओं में पुद्गल संसरण करता है तो पांच प्रकार से अन्वेषित किए जाने पर भी उपलब्ध नहीं होता, तब संसरण कौन करता है[9]। चन्द्रकीर्ति कहते है कि यदि पुद्गल नाम का कोई सत्व होता तो संसरण करता पर वह स्कन्धतिरिक्त

7. ध.सं., पृ. 29

8. त.स.या, पृ 159

9. म.प्र., पृ. 124

है ही नहीं, इसलिये संसरण कौर करेगा। पांच प्रकार से ढूढ़ने की नागार्जुन की दृष्टि का व्याख्यान करते हुए वे अगिन और ईधन का उदाहरण देते है'

इन्धनं पुनरग्निर्न नाग्निरन्यत्र चेन्धनात्।
नाग्निरिन्धनवान्नाग्नाविन्धनानि न तेषुस:।।

अर्थात इन्धन अग्नि नहीं है, अग्नि से अन्यत्र इन्धन भी नहीं है। अग्नि और ईन्धन के इस उदाहरण को ही चन्द्रकीर्ति स्कन्धों में पुद्गल सत्ता के निराकरण के लिए घटाते है और कहते है कि ''तत्र उपादीयते इत्युपादानं पञ्योपादान स्कन्धाः। यस्तानुपादाय प्रज्ञप्यते, स उपादाता ग्रहीता निष्पादक आत्मेत्युच्यते[10]। तत्व संग्रह के ही टीकाकार कमलशील यह कहते है कि यदि आत्मा स्कन्धों से भिन्न रूप में होगी तो वह शाश्वतवादियों की तरह होगी और तब ''सर्व धर्माः निरात्मानः जैसे वचनों का निषेध होगा। यदि रूपादि स्कन्ध ही पुद्गल है तो स्कन्धों से अन्य आत्मा में भी अनेकत्व का प्रसंग आयेगा। जब कि पुद्गल का एकत्व ही अपेक्षित है[11]। नागार्जुन कहते है कि स्कन्धों में आत्म दृष्टि का इसलिए भी औचित्य नहीं है क्योंकि ये पंच स्कन्ध अहंकारोद्भाव है और अहंकार अर्थतः अकृत है। तब जिनकी प्रतीति का कारण अहंकार ही अमृत है असत् है और स्कन्धों का सत्ता का प्रश्न ही नहीं है। अहंकार के विनाश के स्कन्ध समुदायों का ही अस्तित्व नहीं है। इसलिये अहंकार के कारण जब तक स्कन्ध ग्राह रहता है तभी तक उनमें आत्मा, कर्म और फल की दृष्टि का तथा पुनः-पुनः जन्म का अवभास होता है।

---

10. वही. पृ. 91

11. त.स.प.1, पृ. 159

इस तरह हम यह देखते है कि माध्यमिक दृष्टि से वस्तु की स्वभाव सत्ता के निषेध और वस्तु प्रज्ञप्ति में आत्म सत्ता के निषेध से अनेक प्रकार के प्रश्न और शंकायें जीव-जगत् के सम्बनध में उठ खड़ी होती है। नागार्जुन तथा अनय माध्यमिक आचार्य इन सभी शंकाओं को निराकरण करते है और विस्तार पूर्वक माध्यमिक दृष्टि का प्रस्ताव करते है।

नागार्जुन विचार उपस्थिति करते है कि आत्मा स्कन्ध है अथवा स्कन्ध भिन्न है। इस पर विचार करते हुए वे यह तर्क देते है कि यदि आत्मा स्कन्ध ही हैं तो स्कन्धों के उदय व्यय स्वभावी होने से आत्मा भी उदय, व्यय स्वभावी होगी। और इस प्रकार आत्मा में विनाशी धर्म प्राप्त होगा। ''तंत्र यदि स्कन्धा आत्मेति परिकल्पते, तदा उदयव्ययभाग उत्पादी व विनाशी व आत्मा प्राप्नोति, स्कन्धानाभुदय व्ययभगक्त्वात्''[12]। और इस तरह यह स्पष्ट है कि आत्मा स्कन्ध नहीं हो सकती। यदि आत्मा स्कन्धों के अतिरिक्त हैं तो वह स्कन्ध-लक्ष्णों से भिन्न होगी। स्कन्ध समूह संस्कृत धर्म होने के कारण हेतु प्रत्यय जन्य हैं, इसीलिए विनाशी और परिणामी हैं, जो स्कन्धों से भिन्न हैं वह असंस्कृत धर्म हैं, हेतु प्रत्यय जन्य नहीं है इसलिए वह आकाश, आकाशपुष्प की भांति नहीं है और वह आत्मा अहंकार का विषय भी नहीं हो सकती। अतः ऐसी आत्मा का, जो स्कन्धों से भिन्न हो कथन करना सम्भव नहीं है।

---

12. म.प्र. पृ. 145

आचार्य शान्त रक्षित और कमलशील भी आत्मा तथा स्कन्धों के एकत्व एवं अन्यत्व पर इसी प्रकार से अपने-अपने तर्क देते हैं और यह मत व्यक्त करते है कि रूपादि स्कन्ध अनित्यवादी है। पुद्गल इस तरह न होने से अवाच्य है। पुद्गल का अनित्पत्व कहना इष्ट नहीं हैं और वस्तु व्यवहार से पुद्गल की नित्यता से सम्पूर्ण विश्व का ऐक्य प्राप्त होगा[13]। इसलिए पुद्गल न वस्तु है ओर न वस्तु के अतिरिक्त अन्य सत्व रूप से विद्यमान हैं। आचार्य आर्यदेव भी यही कहते है कि बिना हेतु के किसी भाव की स्थिति नहीं होती और हेतुमानों की शाश्वतता सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिए जिस तत्व की अकारणता सिद्धि की जाएगी तत्पवित् उसे सिद्धि नही कहते :-

न बिना हेतुना भावो हेतुमान नास्ति शाश्वतः।
तेनाकरणतः सिद्धि सिद्धिर्नेत्याह तत्ववित्[14]।।

माध्यमिक कारिका में भी उपादान और उपादाता के अभेदत्व तथा भेदत्व का विचार करते हुए यह निरूपति करने का उपक्रम किया गया है कि उपादानों से विर्निमुक्त आत्मा नहीं होने से तथा उपादानों के ही आत्मा मानने पर आत्मत्व की सिद्धि नहीं होने से आत्मा का अस्तित्व नही है। उपादान आत्मा इसलिए नही हो सकती, क्योंकि ऐसा होने से आत्मा में भी उदय-व्यय की सम्भावना होगी और उपादानों का उपादाता अन्य कोई कैसे होगा। उपादान के अतिक्ति आत्मा इसलिए भी नहीं है क्योंकि वह जब अनुपादन होगा और इस तरह से उसका ग्रहण आकाशपुष्प की भाँति नहीं होगा - ‘‘यदि उपादानादात्मा व्यतिरिक्त स्यात्, गृहयेत् स उपादान्नव्यतिरेकेण अग्रहयमाणत्वातखपुष्पवत इत्यभिप्राय: [15]।

---

13. त.स.पं. 1, पृ 162
14. च.श., पृ 31
15. त.स.प. पृ. 165

स्कन्धों के स्वभावनिषेध और पुदगल निषेध के इस सिद्धान्त के साथ ही अनेक ऐसे प्रश्न उठना सहज और स्वाभाविक थे, जिनका समाधान माध्यमिकों को करना था । उदाहारण के लिए एक ओर उन्हें स्थविरावादियों के समक्ष होति तथागतों परं मरणा न होति च'' जैसे प्रश्न का समाधान करते हुए मन सन्तति की मान्यता को यथा तथ्यता की कसौटी पर कसना था तो वहीं उन्हें कर्ता और कर्मफल के भोक्ता के औचित्य तथा अनौचित्य के परिप्रेक्ष्य को परखना था । नागार्जुन के तथागत के स्वभाव को भी स्वीकार नहीं किया और कहा'' न च, तथागतो नाम कश्चिद भार्वस्वाभवत उपलक्ष्यते । केवलं तु भवान विधातिमिरोपहमतिनयतया द्विचन्द्र केशमशकादिवन्मिथ्या तथागतं नाम स्वभावत उपलभ्ते''[16] और इस कम में पुदगल तथा स्कन्धों के अन्योन्य सम्बंध के भाव के स्थापना की तरह पुनः वही तर्क देकर परीक्षा करते है और कहते हैं कि -

स्कन्धा न नान्यः स्कन्धेम्यो नास्मिन स्कन्धा न तेषु सः
त्थागतः स्कन्धवान्न कतमोत्र तथागतः ।।

''यदि पन्चस्कन्ध तथागत से अतिरिक्त होवे, अथवा तथागत में स्कन्ध होवें अथवा स्कन्धों में तथागत हो अथवा तथागत स्कन्धवान हों। किन्तु विचार करने पर अग्नि और ईधन की भांति पूर्व दी गई उपमा की तरह तथागत की प्राप्ति नहीं है[17]।

इस प्रकार जब स्कन्धों के अनुपादानत्व से स्वभवतः तथागत की प्राप्ति न होने से परमार्थतः उनकी प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं है।चन्द्रकीर्ति इस तर्क को और स्पष्ट करते हुए यह कहते हैं कि जो तथागत आत्मीय रूप से स्वभावतः नहीं है वह

---

16. म.प्र., पृ. 187

17. म.शा., पृ. 187

अविधमान होते हुए स्वभावी स्कन्धों के उपादानसे परभावी कैसे सिद्व हो सकेगा - ''यश्च इदानीं स्वभावतो नास्ति आत्मीयेन स्वरूपेण सकथम विधमान स्वभावत: स्कन्धनुपादाय परभावतो भविष्यतीति[18]। और क्योंति यह उपादान स्वभावत: विधमान नहीं है और जो स्वभावत: विधमान नहीं है वह परमाक्त: भी विधमान नहीं हो सकता। इसलिए तथागत जिस स्वभाव के हैं जगत् भी उसी स्वभाव का है। क्योंकि तथागत नि:स्वाभावी हैं अत: जगत् निस्वभावी हैं[19]।

इस प्रकार से माध्यमिक जब रूप वेदनादि स्कन्धों की स्वभाव सत्ता और उसमें पुद्गल दृष्टि की असत्ता का आख्यान करते हैं तब वे विविध तर्को से कर्ता और कर्म फल के भोक्ता की दृष्टि का भी प्रतिषेध करते है। नागार्जुन ने कर्ता और भोक्ता के रूप में आत्म परिकल्पना का निषेध करते हुए यह तर्क उपस्थित किया हैं कि क्रिया को सम्पादित करने वाला कर्ता कहलाता हैं। यह कर्ता सत् असत् हैं अथवा सदसद् हैं। यदि कारक सद्भूत होगा तो किया की अन्य हेतुता की उपेक्षा न होने से दूसरी किया नहीं होगी और इस भॉति कारक की कल्पना निरर्थक होगी - ''सद्भूतस्य किया नास्ति कर्म च स्मादकर्तृकम्। सद्भूतस्य क्रिया नास्ति कर्ता च स्यादकर्मक:''[20] इस तरह नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति का यह भी कहना हैं कि यदि कारक,कर्ता असद्भूत होगा तो कर्म निहेतुक होगा और स्वयं कर्ता ही निहेतुक हो जाएगा। इस तरह से भी विचार करने से कर्ता के स्वीकरण का कोई फल नहीं होगा। यदि कर्ता का स्वरूप सदसद्भूत कहा जाएगा तो यह परस्पर विरूद्व होगा और एक ही काल में कर्ता क्रिया से तथा क्रिया से असुक्त होगा। इस तरह यह स्वयं

---

18. म.प्र., पृ. 189
19. म.शा., पृ. 75
20. म.शा., पृ. 75

सिद्ध हैं कि कर्ता की उभय रूपता भी तर्क सम्भव नहीं हैं।

यदि आत्मा और कर्ता की प्राप्ति नहीं होती तो फिर इस यथार्थ का प्रतिषेध कैसे किया जा सकेगा कि शरीर में विभिन्न समयों में भिन्न-भिन्न चेष्टायें होती हैं। शरीर स्वयं चेष्टा कैसे करेगा, बिना किसी चेष्टावान् के। इस शंका का और उसी यथार्थता का निर्देश करते हुए रथ का उदाहारण देकर यह बताते हैं कि रथ किसी स्पर्श पदार्थ से संचालित नहीं किया जा सकता और वह संचालन स्पर्शवान् साथी द्वारा ही सम्भव हैं। देही भी अस्पर्शवान् आत्मा के द्वारा कैसे संचालित हो सकेगी।

तत्व संग्रह में शान्त रक्षित ने सांख्य की दृष्टि से कर्म और और उसके भोक्ता के सिद्धान्त की मान्यता की दृष्टि का निरास करते हुये यह कहा हैं कि कर्ता रूप में प्रकृति का विधान स्वीकार कर और भोक्ता रूप में पुरूष की कल्पना की असंगति इसी से प्रकट हो जाती हैं कि अन्य कर्ता हैं और अन्य भोक्ता। शुभ और अशुभ कर्म यदि आत्मा के द्वारा कृत नहीं हैं तो भोक्ता के भेद से इसमें संगति कैसे बैठेगी। इसलिए न कर्ता की कल्पना युक्त हैं और न भोक्ता की।

माध्यमिकों की दृष्टि में इन प्रश्नों में भी कोई तथ्य नहीं हैं कि यदि आत्मा अथवा पुद्गल की सत्ता का निरास कर दिया जाएगा तो जाति स्मरण की परम्परा का क्या होगा और विज्ञान द्वारा स्मरण की साधकता की क्या स्थिति होगी।

चन्द्रकीर्ति चतुशतक की टीका में यह कहतें हैं कि संस्कारों के उत्पत्ति के अनन्तर क्षण विनाशी होने से जात्यन्तर स्मरण होता ही नहीं हैं। जन्मान्तर के संस्कार जहाँ उत्पन्न होते हैं वहीं विनष्ट हो जाते हैं। इसलिए आत्मा अतीत काल के जाति स्मरण करती हैं, कहना युक्त नहीं है। ऐसा तो आत्मा की नित्यत्व की कल्पना के साथ ही सम्भवतः सम्भव हो। इसी तरह विज्ञान द्वारा स्मरण की यथा तथ्यता का भी कोई प्रश्न नहीं उठता क्योंकि विज्ञान के स्वसंवेदन के अभाव के कारण उत्तर काल में स्मरण नहीं होता और अननुभूत का भी स्मरण कहना युक्त नहीं हैं - विज्ञानस्य स्वसंवेदना भावादुत्तरकालं स्मरणं न स्यात्। न हि अननुभूतस्मरणप्र युक्तम्, अतिप्रसंगात्[21]।

इस तरह नागार्जुन आदि माध्यमिक आचार्य स्कन्ध समूह में पुदगल की सत्ता का निषेध कर कर्म, फल, कर्ता और क्रिया की दृष्टि से उसके अस्तित्व का प्रत्याख्यान करते हैं और यह भी विचार करते हैं कि जैसे किसी ज्ञाता का होना, उसकी सत्ता का प्रामाणिक आधार नहीं हैं उसी तरह ज्ञेय धर्मो में भी किसी सत् तत्व के सतत् रूप का आधार भी निर्धारित नहीं किया गया जा सकता। इसका हेतु यह हैं कि भाव न स्वतः उत्पन्न होते हैं न परतः, न दोनों हेतुओं से और न ही दोनों अहेतुओं से। भाव उत्पन्न होते हुए कहीं किसी आधार पर आधारित होते हैं -

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुततः[22]।
उत्पन्ना जातु विघन्ते भावाः क्वचन केचन ।।

---

21. बों.च., पृ. 191

22. म.शा, पृ. 4

चन्द्रकीर्ति नागार्जुन की इस कारिका के भावार्थ का विस्तार पूर्वक आख्यान करते हुए भगवान के वचन उद्घत कर यह कहते हैं कि ये धर्म भृषाधर्मक हैं, प्रलोपधर्मक हैं, मृषा हैं, क्योंकि रूप फेन के पिण्ड के सदृश हैं, वेदना जल के बुदबुद के सदृश हैं, संज्ञा मृगमरीचिका की भाँति है, संस्कार केले के स्तम्भ की भांति हैं और विज्ञान भायोयमय हैं - ऐसा भगवान् ने कहा हैं क्योंकि धर्मो का नैरात्म होने से। नागार्जुन आत्मवादियों की उस धारणा का भी इस सम्बन्ध में निषेध करते है जिसके अनुरूप वे दृष्टा, दर्शन और दृश्य की कल्पना का जनि बुनते हैं। वे यह कहते हैं कि दर्शन जो दृष्टा की दृश्य रूपादि विषय के सम्पर्क का सूत्र है स्वयम् अपने को नहीं देखता। जो स्वयं को नहीं देखता वह पर दृश्य को कैसे देखेगा। इस सम्बन्ध में उनका यह तर्क है कि जैसे अग्नि स्वयं का दहन नहीं करती, पर दाहक ही होती हैं वैसे ही दर्शन पर दर्शन होता है, ठीक नहीं हैं, क्योंकि अग्नि दग्ध को नहीं जलाती और अदग्ध को भी नहीं जलाती इसी तरह दृष्ट को दर्शन नहीं देखता और अदृष्ट को भी नहीं देखता। इस तरह दृष्ट और अदृष्ट से मुक्त दृश्य नहीं दिखाई देता - न दृष्टं द्श्यते तावदृट्टष्टं नैव द्श्यते। दृष्टाद्ष्ट विनिर्मुक्तं दृश्यमानं न दृश्यते[23]।

दृष्टा नहीं हैं और दर्शन का भी कोई स्तरूप नहीं हैं। इस अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए नागार्जुन ने भगवान् के उपदेशों को लोक व्यवहार में घटित करने की दृष्टि से संवृति सत्य और परमार्थ सत्य के रूप में भगवान् के विविध सत्य की देशना का विभाग बताया हैं। वे कहते हैं कि भगवान् की देशना दो सत्यों को आश्रित कर दी गई हैं, संवृत्ति सत्य और परमार्थ सत्य के रूप में -

---

23. म.प्र., पृ. 43, बो. च. पृ. 188

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्म देशना।
लोक संवृति सत्यं च सत्यं परमार्थत:[24]।।

चन्द्रकीर्ति संवृत्ति सत्य और परमार्थ सत्य का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि सर्वत्र सभी पदार्थो के तत्वाच्छादन का संवृत्ति कहते है, अथवा परस्पराश्रमण से संवृति हैं अथवा लोक व्यवहार का संकेत संवृति है। इस तरह अभिधान अभिधेय, ज्ञान ज्ञेयादिका अशेष व्यवहार लोक संवृत्ति हैं। स्कन्ध, आत्मा, लोक आदि का आख्यान परमार्थत: नहीं हैं केवल व्यवहार मात्र हैं। परमार्थ रूप में तो वे यह मानते हैं और उसकी व्याख्या करते हैं कि वह सर्व प्रपञ्चों से अतीत, उपदेश और ज्ञानदि से अज्ञेय हैं। इसका लक्षण करते हुए इसे अपराप्रत्यय, शान्त प्रपञ्चातिशर्यो, न्पिर्विकल्पक, अनानार्थ कहा हैं -

अपर प्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत्तत्वस्य लक्षणम्[25]।।

समाधिराजसूत्र में सभी धर्मो की अनुत्पन्नता और अविनाशिता का उदाहरण देते हुए इस प्रकार कहा गया हैं कि जैसे कोई कुमारी स्त्री स्वप्न में पुत्र की उत्पत्ति और उसकी मृत्यु देखे और उत्पन्न होने पर प्रसन्नता तथा मृत होने पर दौर्मनस्य का अनुभव करे जबकि न पुत्र उत्पन्न हुआ था और न मरा ही था, इसी तरह धर्मो को जानना चाहिए। भव क्या हैं, इसका विश्लेषण करते हुए चन्द्रकीर्ति पञ्च स्कधों को भव बताकर उपादान से उपादित पंच स्कन्ध स्वाभावी भव की कल्पना की हैं।

---

24. म.शा., पृ. 215, बो. चं पृ.- 170, च.श., पृ.17

25. म.प्र. पृ. 216

कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म हम से अनागत में होते हैं। स्कन्ध रूप से उसी को भव कहते है। इनमें कायिक और वाचिक कर्म स्वयं स्कन्ध का स्वर्भाव तथा मानसिक कर्म शेष स्कन्धों का स्वाभाव है। इस तरह यह भव स्कन्धक ही है। इसी से जाति, जरा, मरणादि का क्रम प्रवर्तित होता है। इसलिए तत्व दर्शन से तत्व दर्शी यह जानता है कि सभी पदार्थो की अनुपलभ्यता से कुछ भी नहीं है जिसका आलम्बन लेकर कर्म प्रवृत्ति हो - "तत्वदर्शनात् तत्वदर्शने हि सर्वपदार्थानामेवानुलम्भात् नास्ति किन्विद् यदालम्ब्य कर्म कुर्यादिति[26]। अतएव धर्मो की स्वभावतः अनुपलम्यता होने पर उनमें आत्मा-आत्मीय दृष्टि का निषेध स्वभाव सिद्ध हैं। क्योंकि सर्वभावों का षड्धातुओं के भाव से जो निर्णय किया गया हैं, वह उनकी अर्थतः अस्तित्वशीलता से नहीं हैं। इसीलिए भगवान् ने सर्वधर्मो में आत्मा का प्रतिषेध किया है -

सर्वधर्मा अनात्मान इत्यातो भाषितं जिनैः।
धातुषटंकं च तैः सर्व निर्णीत तच्च नार्थतः[27]।।

इस प्रकार समस्त युक्तियों और तर्को के आधार पर जब माध्यमिक स्कन्ध समूह को अहंकाराद्भूत मानते हैं तब वे अहंकार के नष्ट होने पर पंच स्कन्धों की असात्ता का आख्यान करते हैं और यह कहते है कि अहंकार अनृत हैं असत् हैं अतः अहंकार से उद्भत पंच स्कन्धों की स्वभावसिद्धता भी अनृत है, असत् हैं, कल्पनामात्र हैं। तब इस स्कन्ध समूह में आत्मा, पुद्गल, सत्व, जीव के रूप में किसी सत् रूप की स्थापना युक्त नहीं है, इसलिए जब आत्मा, पुद्गल आदि की सत्ता का ही ज्ञापन नहीं कर सकता जब उसमें कर्तव्य का भी आधान नहीं करना चाहिये।

---

26. म.प्र., पृ. 244
27. र., पृ. 301

जब भगवान् ने संवृति सत्य और परमार्थ सत्य के रूप में द्विविध देशना की हैं तो उसका यही तात्पर्य है कि परस्वरापेक्षा से अविद्या के द्वारा असत् पदार्थ के स्वरूप के आरोपण से जो संवृत्ति सत्य ज्ञात होता है वह सत् नहीं है। अविद्या केवल अभूत का ख्यायन करती है, भूत का आर्वतन कर प्रवर्तित होती है -

"अभूतं ख्यापयत्यर्थ भूतमावृत्यवर्तते"[28]। इसलिये पदार्थ सत्ता की कल्पना भी सार्थक नहीं है और जब पदार्थ सत्ता, धर्मों की स्वभावत: सिद्धि नहीं होती तो उनमें आत्मा आत्मीय का भाव भी सिद्ध नहीं होता। तो भी कथित हैं, विचारित हैं, मायोपम हैं। सत्व मायोपम, हैं, सत्व स्वप्नोपमं हैं, सभी धर्म मायोपम् हैं, स्वप्नोपम् हैं, इतना ही नहीं माध्यमिकों का यहाँ तक कथन है कि यदि निर्वाण भी कोई विशिष्ट धर्म हो तो हम उसे भी मायोपम और स्वप्नोपम कहते हैं - मायोपमास्ते देवपुत्रा: सत्वा:। स्वप्नोपमास्ते देवपुत्रा: सत्वा:।........। सर्वधर्मा अपि देवपुत्रा मायोपमा: स्वप्नोपमा:।......। भावत् निर्वाणमपि मायोपमं स्वप्नोपम्। सचेन्निर्वाणादपि कश्चिद् धर्मो विशिष्ट तर: स्यात तमव्यहं मायोपमं स्वप्नोपयं वदामि[29]।

इस तरह से जब माध्यमिक तत्व का वर्णन करते हैं और स्कन्धों तथा धर्म-समूहों में नैरात्म्य की स्थापना करते हैं तो कहते हैं कि कर्म-कलेशों के क्षय से मोक्ष और पुनर्जन्म लक्षण का क्षय होता हैं और ये प्रपञ्ज से प्रपञ्ज शून्यता में निरूद्ध होते हैं :-

कर्म क्लेशक्षयान्मोक्ष: कर्मक्लेशा विकल्पत:।
ते प्रपञ्जा त्प्रपञ्वस्तु शून्यतायां निरूध्यते[30]।।

---

28. बो.च., पृ. 17

29. बो.च.,पृ. 182-193, र., पृ. 302, म.शा. पृ. 73, च.श., पृ. 108

30. म.शा., पृ. 149

और तब चन्द्रकीर्ति इस नैरात्म्य परिनिष्ठित् रूप व्यवस्थित भाव से कहते हुए यह कहते हैं कि तो अद्वितीय मोक्ष द्वारा कुत्सित दर्शनावलम्बियों को भयंकर और समस्त बुद्धों के ज्ञान का विषय हैं, वह नैरात्म्य हैं। स्वभाव रूपा आत्मदृष्टि का अभाव ही नैरात्म्य हैं। सम्यग्दर्शनों द्वारा पदार्थ के यथार्थ स्वभाव के जानने के बाद धर्मनैरात्म्य और पुद्गल नैरात्म्य में ममत्व छूटता है और यही निर्वाण प्राप्ति का कारण है[31]।

31. च.वृ., पृ. 85-86

(घ) पुद्गलनैरात्म्य तथा धर्म नैरात्म्य विज्ञानवादी दृष्टि से -

स्थिरमति त्रिंशिका के प्रारम्भ में यह कहते है कि पुद्गल नैरात्म्य धर्मनैरात्म्य का प्रतिपादन उन लोगों के लिए किया जाना आवश्यक है जो इन विविध नैरात्म्य रूपों में या तो सम्यक् दृष्टि नहीं रखते है अथवा जिनकी दृष्टि बिल्कुल ही इस ज्ञान में नहीं है[1]। क्योंकि इस दृष्टि के बिना पुरूष क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का प्रहाण नहीं कर पाता। वे क्लेशावरण और ज्ञेयावरण की दृष्टि का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए यह बताते है कि राग आदि की समस्त दृष्टियां केवल इसलिए उत्पन्न होती हैं क्योंकि पुरूष की दृष्टि सत्काय दृष्टि के आबद्ध हो जाती है। जो रागादि की दृष्टि में अनुरक्त होता है, वह रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के समूह भूत पुद्गल को ही इस प्रकार की आत्मा में रूप में देखने लगता है जो आत्मा स्वतंत्र और आनन्द रूप हो। रागदृष्टि से ही आत्मदृष्टि का प्रभाव होता है और रागादि समूह ही क्लेश है जिनके आवरण से अवृति पुरूष क्लेशबद्ध रहता है-''आत्मदृष्टि प्रभाव रागादयः क्लेशा:[2]। आर्य मैत्रेय भी ''क्लेशएवावरणं'' कहकर क्लेश को ही आवरण के रूप में देखते है और इस क्लेश लक्षण आवरण को, अनुनय प्रतिद्य, मान, अविद्या, दृष्टि, परामर्श, विचिकित्सा, ईर्ष्या, मात्सर्य रूप में नव प्रकार का बताकर संसार के उद्वेजन में आवरण बताते है, जो अहं और मम के व्यवहार फलित होते हैं[3]।

1. वि.भा., पृ. 85
2. वही., पृ. 87
3. म.शा., पृ. 10

आत्म–आत्मीय दृष्टि का यह जाल कैसे दुःख, तृष्णा, राग, द्वेषादि उत्पन्न करता है और किस तरह संसार के संसरण में मनुष्य क्लेश भोगता है– इसका क्रम दिखाते हुए धर्म कीर्ति कहते है कि जो पंचस्कन्धों में आत्मदृष्टि रखता है वह सम्बद्ध सभी धर्मो में आत्मीय दृष्टि से भी आबद्ध हो जाता है। मै हूँ, यह मेरा है, जैसी दृष्टियों से उसे शाश्वत् स्नेह होता है। फिर वह पुरूष स्नेह की सुख की प्राप्ति से तुष्ट होता है और विपरीत भाव के प्रति उसके मन में द्वेष होता है। जो शुचिता, इष्टता आदि गुणों को देखता है वह अपने के प्रति मेरा सुख है, जैसी भावनाओं से आवद्ध हो जाता है। उन सुखों की इच्छा से उन सुखों की साधना के लिए ही पुरूष गर्भ गमनादि क्लेश पूर्ण क्रिया का धारक होता है। अतः जब तक उसमें आत्मा का अभिनिवेदश होता है तब तक वह इस संसार में, आवागमन के जाल में रहता है। आत्म संज्ञा की दृष्टि की प्रति बद्धता होने पर संज्ञा की बुद्धि भी उसमें उदित होती है और तब परिग्रह तथा त्याग का भाव उदित होता है । इन आत्म–आत्मीय दृष्टियों से सम्बद्ध होने से ही सभी दोष उत्पन्न होते है और आत्म स्नेह में आबद्ध होने के कारण वह इससे विरक्त नहीं हो पाता।

इसलिये स्थिरमति यह कहते है कि जब रागादि समस्त क्लेश सत्काय दृष्टि से सम्बद्ध है तो सत्काय दृष्टि से ही क्लेशों की प्रवृत्ति होती हैं। यदि सत्काय दृष्टि की निवृत्ति हो जाए तो रागादि क्लेशों का प्रहण स्वतः हो जाऐगा। पुद्गल में नैरात्म्य की दृष्टि रखना सत्काय दृष्टि की प्रतिपक्षी दृष्टि है इसलिये पुद्गल नैरात्म्य की दृष्टि सत्काय दृष्टि का प्रहाण होता है, फलतः रागादि क्लेशों के आवरण से

पुरूष की निवृत्ति होती है-"पुद्गल नैरात्म्यावावोघश्व सत्काय दृष्टेः प्रतिपक्षत्वात् तत्प्रहाणय प्रवर्तमानः सर्व क्लेशान् प्रजहाति[4]। ज्ञेये आवरणं ज्ञेयावरणं ज्ञानोत्पत्ति प्रतिबन्धकत्वात्"[5] की दृष्टि से ज्ञेयावरण के प्रहाण के तत्व का आख्यान करते हुए विज्ञानवादी दृष्टि से यह कहा जाता कि धर्म नैरात्म्य की देशना ज्ञेयावरण के ग्रहाण के लिए है। क्योंकि विज्ञानवादी विज्ञान के अतिरिक्त वाह्य की सत्ता का निषेध करते है और यह कहते है कि बाह्य पदार्थो की सत्ता दृष्टि समस्त ज्ञेय धर्मो के साक्षात्कार में आवरण है, इसलिये पदार्थो की बाहय सत्ता न होने पर भी इस दृष्टि द्वारा ज्ञेय होना ज्ञेयावरण दृष्टि है। इस दृष्टि का, जिसके द्वारा ज्ञेय पदार्थो की बाह्य सत्ता में सत्ता की बुद्धि होती है, प्रहाण ही ज्ञेयवरण का ग्रहाण है जिससे पुरूष को सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। "ज्ञेयावरणमणि सर्वस्मिन् ज्ञेये ज्ञान प्रकृत्ति प्रतिबन्धभूतम क्लिष्टम् ज्ञानम्। तस्मिन् प्रहीणे सर्वाकारे ज्ञेयेऽसक्तमप्रतिहतं च ज्ञानं प्रवर्तत इत्यतः सर्वज्ञत्वमधि गम्यते"[6]।

विज्ञानवादियों की वस्तु अनित्यता की दृष्टि के सम्बन्ध में जैसा कहा गया है उसी के अनुरूप यहां आचार्य असंग की इस धारणा को पुनः उपस्थित किया जा सकता है कि विज्ञान या चित्त जो परस्पर पर्यायद्योतक है के अतिरिक्त वस्तु का बाह्य अस्तित्व नहीं है और क्योंकि बाहय वस्तु का बाहय रूप प्राप्त नहीं है इसलिए चित्त की वासनाओं से वासित वस्तु के बाहय अस्तित्व के अभाव से चित्त की अनित्यता भी स्वयम् प्राप्त होती है। घीमान् इस प्रकार से दोनों की, चित्त की और बाह्य वस्तुओं की नास्तिता को प्राप्त होता है, जानता है। इसलिये वसुबन्धु यह कहते है कि धर्मोपचार प्रचलित है वह विज्ञान के परिणाम से ही प्रचलित है-" आत्म

---

4. वि.भा., पृ. 87-88
5. म.शा., पृ. 10
6. वि.मा., पृ. 89-90

धर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते। विज्ञानपरिणामेंऽसौ[7]। वसुबन्धु की इस कारित की व्याख्या में स्थिरमति अपने भाष्य में यह स्पष्ट करते है कि यही आत्मोपचार और धर्मोपचार आत्मप्रज्ञप्ति और धर्म प्रज्ञप्ति से अनेक प्रकार से प्रवृत्त होता हैं। आत्म प्रज्ञप्ति का व्यवहार आत्मा, जीव, जन्तु, मनुज और माणव आदि के रूप में देखा जाता है जबकि धर्म प्रज्ञप्ति का व्यवहार स्कन्ध, आयतन, धातु, रूप वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के प्रकार से होता है। यह दोनों प्रकार विज्ञप्ति व्यवहार केवल विज्ञान के परिणाम में ही होता हैं। आत्मा और धर्मो की सत्ता के रूप में नहीं होता है।

इस सिद्धान्त के प्रमाण के रूप में वे यह तर्क उपस्थित करते है कि जब विज्ञान परिणाम के अतिरिक्त न कोई आत्मा, जीव, पुरूष, पुद्‌गल है और न ही रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञानादि स्कन्धों, धातुओं और आयतनों की बाह्‌य सत्ता ही है तब उनके व्यवहार का आधार वे कैसे हो सकते है जो स्वतः बाह्‌यार्थ में विद्यमान नहीं है। इसलिये सिद्धान्ततः यही पक्ष उपस्थित किया जा सकता है कि आत्मा औध धर्मो का जो भी उपचार होता है, वह केवल विज्ञान परिणाम के लिये होता है- धर्माणामात्मश्च विज्ञान परिणामाद् बहिरभावात्[8]।

आचार्य असंग पुद्‌गलवादियों द्वारा पुद्‌गल के अस्तित्व के सिद्धान्त के प्रति प्रतिप्रश्न करते हुए यह पूछते है कि क्या रूपादि स्कन्ध ही पुद्‌गल है या स्कन्धों से भिन्न कोई पुद्‌गल हैं क्योंकि यदि रूपादि स्कन्धों को ही पुद्‌गल माना जाएगा तो

---

7. वि.भा., पृ. 95
8. वि.भा., पृ. 97

फिर उसका स्कन्ध रूप ही प्राप्त होगा। यदि यह कहा जाएगा कि पुद्गल स्कन्धों से भिन्न है तब यह द्रव्यसत् प्राप्त होगा, जो कि है नहीं। यदि शास्ता के शासन के अतिक्रमण करके यह माना जाए कि पुद्गल द्रव्यतः सत् है तो यह भी जानने की अपेक्षा होगी कि ऐसा किस कारण से होगा। ऐसी स्थिति में अग्नि और इन्धन का उदाहारण देकर पुद्गल की अवक्तव्य नहीं कहा जायेगा क्योंकि ईधन और अग्नि भिन्न हैं, अग्नि तेजोभूत है इन्धन शेषभूत हैं। इन दोनों का द्वय रूप लोक में भी देखा जाता हैं-

लक्षणाल्लोक्दृष्टाच्च शास्त्रतोऽपि न युज्यते।।
इन्धनाग्न्योरवाच्यत्वतुपलब्धेर्द्वयेन हि।।[9]

इसलिये वे यह कहते है कि भगवान ने जो यह कहा है कि इन धर्मो में आत्मा उपलब्ध होती है, प्रज्ञप्ति होती है उसका तात्पर्य यह नहीं है कि आत्मा द्रव्यतः उपलब्ध होती हैं। भगवान् ने इसका विपरीत भी कहा है जिसमें वे यह कहते है कि अनात्म धर्मो में आत्मा की उपलब्धि होती है। इसलिये पुद्गल का तथा रूप स्वीकार करना विपर्यात दृष्टि हैं-तस्माद् एवं पुदगलग्राहो विपर्यासः सः''[10]।

आचार्य मैत्रेय परिकल्पत, परतंत्र और परिनिष्पन्न स्वभावी धर्मो के अन्तर्गत ही पंच स्कन्धों को आकलित करते है। वे कहते है कि रूपादि उत्पत्ति भाव से उनकी परतन्त्रता है, उनका विकल्पित रूप है वह रूपादि स्कन्धों का जो परिकल्पित स्वभाव है वही उनकी परिकल्पिता हैं। हेतु प्रत्ययाधीन स्कन्धों का परतंत्र रूप है। उनका धर्मता रूप ही परिनिष्पन्न स्वभाव हैं। और इस तरह इन पंच स्कन्धों में युक्तिपूर्वक परीक्षित करने पर भी आत्मा नहीं प्राप्त होती है- तदेवं सति स्कन्धमात्रमेतन्नास्त्येषु

---

9. म.सू.,पृ. 150
10. वही. पृ. 149

स्कन्धेषु नित्यो, ध्रुवो, शाश्वतः स्वभूतः। कश्चिदात्मा वा, सत्वोवा, योऽसौजायेतवा, हीयेत वा, भियते वा, तत्र वा, तत्र कृतकृतानां कर्मणां फलविपाकं प्रति सम्वेदयेत्''[11]। रूपादि स्कन्धों में पिण्डग्राह में कैसे आत्मा का व्यवहार होने लगता है इसका उदाहरण देते हुए असंगत कहते है कि स्कन्धों कमे समूह में आत्मा व्यवहार वैसे ही होते है जैसे गृह, सेना, वन, भोजन, पानादि का समूह पदार्थो में संकेत प्रचलित हो जाता हैं। स्कन्धों की बाह्यार्थाता की असतता पर और स्कन्ध समूह में आत्मा की प्राप्ति के सिद्धान्त पर जब प्रमाणवार्तिकार से यह पूछा जाता है कि फिर मुक्ति के लिए कौन यत्नशील होता है यदि आत्मा का स्कन्धतिरिक्त अस्तित्व ही नहीं है तो धर्मकीर्ति यह तर्क देते है कि कोई नहीं। क्योंकि जब तक अहंकार के विषय में स्कन्धों में प्रेम और स्नेह रहता है आत्मा की प्रतीत रहती है। तभी तक पुरूष अपने दुःख में आरोपित कर दुखित और तापित रहता है। जब तक वह दुःख हेतु से अपगमित होने का उपाय नहीं करता तब तक क्लेश से विमुक्त हो स्वस्थ नहीं होता। जैसा रज्जू में सर्प का अध्यवास परिहार का विषय है उसी तरह में बद्व हूँ, मै मुक्त हुऊँगा, व्यवहार भी है, स्कन्धतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व न होने से।

पुद्गल नैरात्म्य को प्रतिष्ठित करने के लिए असंग और भी तर्क प्रस्तुत करते हैं। वे यह कहते है कि यह कहना असम्भ नहीं है कि पुद्गल का द्रव्यतः अस्तित्व है और इसलिये भगवान की पुद्गल देशना हैं। उनकी देशना आत्मदृष्टि के उपादान के लिए हैं यह कहना इसलिये सम्भव नहीं हैं क्योंकि आत्मदृष्टि तो पहले ही अनुपाद्य हैं। पुद्गल देशना इसलिए नहीं हो सकती कि आत्मा के अनादिकालिक मानने पर उसका अभ्यास भी अनादिकालिक ही होगा और मार्गदर्शन से मोक्ष की प्राप्ति का

---

11. म.शा., पृ. 16

निरास इस हेतु वे कहना सम्भव होगा कि आत्मा के नित्य और सत्य रूप में होने से सभी को बिना प्रयत्न के ही मुक्तिलाभ हो जाएगा। फिर आत्म दृष्टि से अहंकार, ममकार, आत्मतृष्णा आदि का ग्रहण होने से क्लेशबद्ध होना भी निश्चित है। इसलिये भगवान बुद्ध की पुद्गल देशना आत्म देशना नहीं है[12]।

विज्ञान वादियों की दृष्टि से विज्ञान में वासित वासनाओं के कारण तद् कल्पनाओं के रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कारादि का आभास होता है। वस्तु रूप में, द्रव्य रूप में वस्तुवादियों की भांति पंचस्कन्ध प्राप्त नहीं हैं। इसलिये इन पंच स्कन्धों की पिण्ड में पुद्गल की प्राप्ति का, आत्म दृष्टि का वे खण्डन करते हैं और यह कहते है कि पुद्गल की कल्पना, आत्म दृष्टि का व्यामोह केवल विज्ञान परिणामों में प्रचलित असत्ता का व्यवहार हैं, इसलिये पुद्गल नैरात्म्य का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है।

जिस प्रकार विज्ञान वादियों दृष्टि से पुद्गल प्राप्ति का निषेध किया गया है उसी तरह से वे धर्मो में आत्म-दृष्टि का भी निषेघ करते हैं। इस विचार के सन्दर्भ में विज्ञान वादियों का यह दृष्टिकोंण है कि स्कन्ध, आयतन, धातु के रूप में संस्कृत तथा असंस्कृत धर्मो के रूप में यह विज्ञान के समस्त परिणाम को जिस तरह कल्पित किया जात है उकस वाह्यार्थ रूप में अस्तित्व नहीं हैं। वे कहते है कि जिस-जिस विकल्प द्वारा जो-जो कल्पित किए जाते है वे सभी धर्म वस्तुतः उस प्रकार के नहीं होते जैसे की कल्पित किए जाते हैं, वाह्यार्थ के रूप में सत्रूप में वस्तु की उपलब्धि नहीं होती-विज्ञान परिणामोऽयं विकल्पों यद् विकल्पयते तेन् तन्नास्ति[13]। इस

---

12. म.सू.,पृ. 152-153

13. वि.मा., पृ. 260

तरह आत्म सत्ता और धर्म की सत्ता का निषेध होता हैं।

विज्ञान के परिणाम की सिद्धि के लिये स्थिरमिति त्रिंशिका के अपने भाष्य में परिणाम क्या है? इस पर विचार कहते हुए यह मत प्रस्तुत करते है कि कारण क्षण के निरोध के समय कारण क्षण से विलक्षण कार्य का उत्पाद ही परिणाम हैं। कोऽयं परिणामों नाम। अन्यथात्व्। करणक्षण निरोध समकाल: कारणक्षणविलक्षण: कार्यस्यात्मलाभ: परिणाम:''[14]। और अधिक विस्तारपूर्वक इस तथ्य की यथातथ्यता की परीक्षा कर कहते है कि आत्मदृष्टि की स्थापना से ही अनादिकाल से विविध प्रकार की वासना में आलय विज्ञान जो वासना से संचित होती है, पुष्ट होकर रूपादि धर्मो की कल्पनाओं में आर्विभूत होती है और तब ऐसा अनुभव होने लगता है जैसे रूपादि धर्मो का विज्ञान की कल्पना या परिणाम कोई पृथक अस्तित्व हो। धर्मो का विज्ञान की कल्पना या परिणाम से कोई पृथक् अस्तित्व हो धर्मो की इसी पृथक अस्तित्व की दृष्टि से उन धर्मो में ''स्व'' स्वात्मा का व्यवहार भी प्रचलित हो जाता हैं। यह सब उसी प्रकार होता है जैसे तिमिर रोग से ग्रस्त किसी व्यक्ति को केश गुच्छ का ज्ञान उसी तरह होने लगता है जैसे वह उसके चक्षुर्विज्ञान से पृथक् कोई बाह्यार्थ पदार्थ हैं।

आचार्य असंग महायान सूत्रालंकार में धर्म के अभाव और उपलब्धि, नि:संक्लेश और विशुद्ध को माया सदृश कहते हैं। वे उदाहरण यह देते है कि जैसे चित्र में चित्रित ऊँचे-नीचे भाग द्वय रूप में पृथक - पृथक दिखाई देते हैं। उसी तरह विज्ञान और विज्ञेय भी द्वरूय रूप में दृष्टिगोचर होते है। वस्तुत: न तो चित्र में ऊँचा-नीचा होता और न ही विज्ञान और विज्ञेय द्वय रूप हैं। उनका कहना है कि जैसे मथित

---

14. वही. पृ. 97

होने पर जल दूषित हो जाता है और स्थिर होने पर यह स्वच्छ होता है, जब जल की स्वच्छा उसमें न तो कहीं से आती है और न कही जाती है इसी तरह चित्र मात्र की वासना से विज्ञेय धर्मो का रूप दिखाई देता है और उन धर्मो में आत्म-दृष्टि की प्रतिबद्धता हो जाती है। वस्तुतः चित्त मात्र ही धर्मता है नैरात्म्य का बोध है।

विज्ञान के विपरिणाम के परिमाणित धर्म केवल अभिलाप मात्र हैं, इसके लिए तर्क उपस्थित करते हुए असंग ने कहा कि धर्मो का वैसा स्वभाव नहीं है, जैसा उनका अभिलाप होता हैं। धर्मो के पारमार्थिक स्वरूप को तो केवल निर्विकल्पक विज्ञान के विषय मात्र को ही जानना चाहिये - "स पुनः परिमार्थिक कः स्वभाव सर्वधर्माणां निर्विकल्पस्यैव ज्ञानस्य गोचरो वेदितव्य"[15]। इसलिये बोध सत्व संस्कृत असंस्कृत धर्मो के पुद्गल नैरात्म्य और धर्म नैरात्म्य को जानता है, क्योंकि विद्यमान धर्म पुद्गल नहीं है और न ही विद्यमान धर्मो के अतिरिक्त अन्य पुद्गल है। इसी तरह सभी अभिलाप वस्तुओं में अभिलापित स्वभाव विद्यमान नहीं है, इसलिये वस्तु के स्वभावात्म रूप में अविद्यमान होने पर उन धर्मो में आत्मा की कल्पना भी युक्त नहीं हैं।

ग्राह-ग्राहक की दृष्टि की कल्पना की मिथ्यारूपता का बोधिसत्व को अपनी चर्या से कैसे ज्ञान होता है, इसका क्रम बताते हुए असंग यह कहते हैं कि बोधिसत्व समाहित चित्त होकर मनो कल्पना से निर्मुक्त होकर सर्व अर्थो को नहीं देखता है। वह स्व लक्षण और सामान्य लक्षण धर्मो की धर्मता को केवल मन की कल्पना मात्र ही मानता है। और प्रथम रूप में वह केवल चित्त मात्र में अवस्थित होता है। बाहयार्थ के रूप में जो प्रतिभासित होता है, वस्तुतः वह चित्त के आभास का ही

---

15. बो.भू., पृ. 30,33

स्वरूप हैं - ऐसा जब बोधिसत्व को ज्ञान हो जाता हैं, तब उसे बाहयार्थ की असत्ता की दृष्टि प्राप्त होती हैं और उस समय उसके मन में केवल ग्राहक भाव का विक्षेप ही शेष रहता है, अर्थात् वह यह निश्चय रूप से जानता रहता हैं कि ग्राहय के असत् होने पर भी ग्राहक चित्त की अवस्थिति हैं। शीघ्र ही जब वह आनन्तर्यसमाधि प्राप्त करता हैं तब उसको ग्राहक दृष्टि की विक्षेपावस्था से भी मुक्ति मिलती हैं। तब वह यह ज्ञान प्राप्त कर लेता है कि ग्राहक चित्त अथवा विज्ञान भी सत् नित्य नहीं हैं। इस तरह बोधिसत्व पुद्गल और धर्मो में नैरात्म्य का बोध कर सम्पूर्ण विक्षेप से विमुक्त हो ज्ञान प्राप्त करता है।

पुदग्ल नैरात्म्य और धर्म नैरात्म्य की इस दृष्टि की स्थापना के पश्चात् दृष्टा, कर्ता, भोक्ता आदि की सिद्धि-असिद्धि की समस्या भी विज्ञानवादियों के समक्ष थीं। इस पर विचार करते हुए भी आचार्य असंग ने विस्तार से तर्क उपस्थित किये और यह कहने का प्रयत्न किया कि पुद्गल की नित्य प्राप्ति की स्वीकृति से दृष्टा, कर्ता और भोक्ता की व्यवस्था को किसी भाँति व्यवस्थित नहीं किया जा सकता। वे यह विचार करते हैं कि यदि पुद्गल की प्राप्ति को नित्य रूप में स्वीकार किया जाता हैं तो भगवान् बुद्ध के उपदेशों में लोकोत्तरता नहीं होगी, क्योंकि सर्व साधारण द्वारा पुद्गल की प्राप्ति का उपदेश साधारण और लोकगम्य ही होगा। यदि पुद्गल को दृष्टा के रूप में नित्य दृष्टा कहा जाएगा तो प्रश्न उत्पन्न होगा कि वह दृष्टा कहा जाएगा तो प्रश्न उत्पन्न होगा कि वह दृष्टा सप्रयत्न दर्शनादि क्रिया करता हैं अथवा उसकी दर्शन क्रिया निष्प्रयत्न सम्पादित होती है। यदि उसकी क्रिया सप्रयत्न हैं तो वह स्वयम्भू होने से कर्ता नहीं होगा, प्रयत्न नहीं करेगा। उसकी सभी क्रिया नित्यता को प्राप्त

होगी, उसके स्वयम् के नित्य रूप होने के कारण और यदि क्रिया निष्प्रयत्न होगी तब दर्शानादि क्रियायें स्वतः सिद्ध होंगी, पुद्‌गल के व्यपार की आवश्यकता हीं नहीं होगी-

अकर्तृतवादनित्यत्वात्सकृन्नित्यप्राप्तितः।
दर्शनादिषु मन्त्रस्य स्वयंभूत्वं न युज्यते[16]।।

आचार्य असंग श्रावक की चर्या का और उसके विचार तारतम्य का विवरण प्रस्तुत करते हुए यह बताते हैं कि श्रावक प्रतीत्य समुत्पाद का आलम्बन लेकर यह विचार करता है कि उन धर्मो के उत्पाद से धर्म उत्पन्न होते हैं और उन-उन धर्मो के निरोध से वे धर्म निरूद्ध होते हैं। इस धर्मोत्पत्ति की व्यवस्था में कोई धर्मी, ईश्वर, कर्ता, धर्मो का निर्माता पुरूष नहीं हैं। धर्मो की अर्थ प्रति संवेदिता ही अर्थ को अन्वेषित करती हैं - तदप्यिपेतयं धर्ममधिमतिं कृत्वा तेषां तेषां धर्माणामुत्पादान्ते धर्मा उत्पन्ते, तेषां तेषां धर्माणां निरोधान्ते धर्म निरूध्यन्ते। नास्त्पत्र धर्मो कश्चिदीश्वर, कर्ता, सृष्ठा, निर्माता धर्माणां, नप्रकृतिर्न पुरूषन्तरं प्रवृर्त को धर्माणामित्येमर्थप्रतिसंवेदी अर्थ पर्येषते[17]। जो कर्ता और प्रति संवेदक हैं वह धर्म संकेत के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। अविद्या प्रत्यय में संस्कारों में जरा-मरणादि की संज्ञा प्रज्ञप्ति का व्यवहार ही कारक, ज्ञाता, गोत्र आदि का व्यवहार है[18]।

वसुबन्धु विंशतिका में विज्ञानवादियों का दृष्टिकोण इस प्रकार उपस्थित करते हैं, कि आत्मा का दृष्टतव, कर्मकर्तृत्वादि इसलिए तर्कयुक्त नहीं है, क्योंकि चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्र विज्ञान, घाण विज्ञान, जिहा विज्ञान, कार्य विज्ञान तथा मनोविज्ञान ही रूप, शब्द,

16. म.सू., पृ. 151

17.भा.भू., पृ. 381

18. वहीं., पृ. 383-384

गन्ध, रस, और स्पृष्टव्य का ग्रहण तथा धर्मों का निश्चयी होता हैं इसलिए इनकी प्राप्ति के लिए आत्मा की क्रियाकारिता की कल्पना उचित नहीं है। इसलिए भगवान् पुद्गल नैरात्मय में प्रवेश के लिए पुद्गलनैरात्म्य की देशना करते हैं - "द्वयाद् विज्ञानषटंक प्रवर्तते, नतुकश्चिद् एको द्रष्टास्ति - इत्येवं विदित्वा ये पुद्गलनैरात्म्य देशनाविनेयास्ते पुद्गल नैरात्म्यं प्रविशन्ति[19]।

आचार्य मनोरथ का यह तर्क है कि आत्मा की सिद्धि करने वाले यह मत व्यक्त करते है कि आत्मा क्रिया कारक और भोवतव्य हैं, किन्तु जब आत्मीय ही नहीं है तब क्यों कर्म होगा और भोक्ता का प्रसंग भी कहां से उत्पन्न होगा। यदि आत्मा और आत्मीय का स्नेह सम्बन्ध होगा तो संसार के उच्छेद का प्रसंगादि नहीं उठता, इसलिये संसार से उद्विग्न मुमुक्षु कर्ता और भोक्ता रहित सत्वदृष्टि करें।

कारण कार्य की पूर्वपरता की व्यवस्था के अनुरूप यदि आत्मा का कर्तृत्व हेतु है और भोक्तृत्व फल है तो भी आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व के सिद्धान्त को सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में धर्मकीर्ति का यह तर्क है कि यदि कर्तृव्य हेतु और भोक्तृत्व फल आत्मा की एक रूपता के कारण अभेद स्थिति वाले है तो हेतु और फल में अभेद का प्रसंग उत्पन्न होगा और कारण कार्य की परम्परा में यह मान्य भी नहीं हो सकेगा। यदि कर्तृव्य हेतु और भोक्तृत्व फल आत्मा के एक होने पर भी परस्पर भिन्न होगें तो आत्मा के ऐक्य का प्रसंग व्यर्थ होगा। इसलिये आत्मा के कर्तृव्य और भोर्क्तृत्व के प्रसंग से आत्मा का नित्य मानना ही श्रेयस्कार नहीं हैं

---

19. वि.मा.,पृ. 39

इस प्रकार विज्ञानवादियों की दृष्टि से जो विविध तर्क उपस्थित किए जाते है और जिनसे यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि स्कन्ध समूह में पुद्गल रूप में अथवा धर्म समूह में जो आत्मा और आत्मीय का व्यवहार किया जाता है वह केवल व्यवहार मात्र ही हैं। वस्तुतः नित्य, सर्वज्ञं, व्यापक और कर्ता के रूप में आत्मा के अस्तित्व को किसी भीं भांति सिद्ध नहीं किया जा सकता हैं।

विज्ञानवाद की दृष्टि से यह जो पुद्गल नैरात्म्य और धर्म नैरात्म्य का दृष्टिकोण उपस्थित किया जाता है, उससे यह सिद्ध हो जाता है कि पुद्गल में और धर्मो में आत्मा की सत्ता स्वीकार करने योग्य नहीं हैं। आत्म सत्ता का दृष्टिकोगण व्यवहार के लिये ही होता हैं। इस तरह जहां विज्ञानवादी की दृष्टि से आत्मा की सत्ता का निषेध होता है, वहीं पुद्गल का द्रव्यत्वेन और धर्म रूप में वस्तु के अस्तित्व का जो सिलसिला, उसका भी निषेध है। विज्ञान की वासनाओं से वासित व्यवहार ही धर्मो के अस्तित्व के व्यवहार का कारण हैं, जबकि धर्मो के व्यवहार का कारण विज्ञान परिणाम ही हैं। जैसे धर्मो के अस्तित्व नहीं है, उसी तरह आत्मा की सत्ता का भी अभाव है।

विज्ञान वादियों की इस दृष्टि का प्रभाव जहां अतिसुक्ष्म चिन्तन से शून्यवादियों पर पड़ता है और वे विज्ञान की सत्ता का भी निषेध करने में प्रवृत्त होते है वहीं विज्ञानवाद की परिणाम वादी दृष्टि सांख्य दर्शन को भी किसी न किसी रूप में प्रभावित करती है। विज्ञान के परिणाम से जैसे कर्म व्यवहार होता है और विज्ञानवादी जैसे धर्मो की सत्ता का निषेध कर विज्ञान के अस्तित्व को स्वीकार करते है वैसे ही प्रकृति से उत्पन्न पदार्थ परिणामतः प्रकृति से ही उत्पन्न होकर सांख्य की दृष्टि से उसी में विलीन हो जाते हैं, क्योंकि गुण परिणाम स्वभावी है[20]।

---

20. सा.त.कौ., पृ. 151

पंचम अध्याय
(अन्य दर्शनों में अनित्य तथा अनात्मता के संकेत)

(क) सांख्य दर्शन में

(ख) न्याय और वैशेषिक में

(ग) वेदान्त दर्शन में

पंचम अध्याय

(अन्य दर्शनों में अनित्य तथा अनात्मता के संकेत)

(क) सांख्य दर्शन में :-

यद्यपि सांख्य के सिद्धान्तों का कुछ पूर्व रूप उपनिषदों में भी बताया जा सकता है जैसे कठोपनिषद् का अव्यक्त से महान् आत्मादि का उद्गम या वृद्दारण्यक का पुरूष विचार, किन्तु यह सभी न तो व्यवस्थित था और न ही क्रमबद्ध। और यदि यह मान लिया जाए कि कपिल नामक कोई मुनि बौद्ध दर्शन की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाने के पूर्व थे भी तो भी उनका कोई अधिकृत साहित्य और दर्शन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है और न ही सांख्य सिद्धान्तों को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने वाला कोई ऐसा ग्रन्थ अभी तक प्राप्त है जो भगवान बुद्ध के पूर्व का हो[1]।

इस समय सांख्य कारिक ही एक मात्र ग्रन्थ है जो प्राचीन माना जाता है जिसके सांख्या सिद्धान्तों का क्रमबद्ध परिचय भी मिलता हैं। तत्व समास और सांख्य सूत्र का प्रायः एक ही कर्ता की कृतियाँ मानकर इन्हें अर्वाचीन ग्रन्थ बताया जाता है। मैक्स मुलर ने तत्व समास को अधिक प्राचीन तथा सांख्य सूत्र को अर्वाचीन माना है[2]। किन्तु कीथ, हिरियन्ना आदि विद्वान् यह स्वीकार नहीं करते हैं[3]।

सांख्य दर्शन के स्थापकों की यह प्रतिज्ञा है कि वे दुःखत्रय के अभिघात के हेतु के लिए जिज्ञासा करते हैं। जगत् में दुःखत्रय है और यह कि दुःख दृष्ट और आनुश्रविक वैदिक यागादि उपायों से दूर नहीं होते और यदि एक बार मनुष्य किसी भांति लौकिक उपयों से दुःख से छुटकारा पा भी लेता है तो भी उनकी पुनर्प्राप्ति

---

1. का. 3/10-11, 6/7-11. बृह. 2/4/14,3/4/2
2. सि.सि.इ.फि.(मै.), पृ. 318
3. सां.र्स.(की), पृ.109, आ.इ.फि.(हि.)पृ. 269

सम्भव है, इसलिये दु:खत्रय से मुक्त होने का एक मात्र उपाय "व्यक्त" "अव्यक्त" और "ज्ञ" का ज्ञान ही हैं[4]।

सांख्यकार संसार के समग्र पदार्थो का प्रमाणपुरस्सर विवेचन करते है तो प्रकृति का लक्षण करते है कि प्रकृति अहेतुक हैं। इसका अन्य कोई तत्व कारण नहीं है। इसका स्वरूप नित्य, व्यापक, क्रिया रहित, एक, निरवयव तथा स्वतंत्र हैं। यह त्रिगुण अर्थात् सत्व, रज और तमोगुण की अवस्थावाली, अविवेकी, विषय, सामान्य अचेतन और उत्पत्ति कर्त्री हैं। इसी प्रकृति का ही नाम प्रधान भी कहा गया है जो केवल उत्पन्न करती हैं। स्वयम् किसी तत्व से उत्पन्न नहीं हैं। यह किसी अन्य तत्व से उत्पन्न न होने के कारण किसी का विकार भी नहीं हैं।

अब विकृति अर्थात विकारभूत तत्वों के विषय में सांख्य की दृष्टि को स्पष्ट को करना हैं। विकृति शब्द से जिन तत्वों, पञ्च महाभूत और एकादश इन्द्रियों को कहा गया है कि ये सभी उत्पन्न तो होते हैं किन्तु स्वयम् किसी तत्व को उत्पन्न नहीं करते-तत्व कौमुदीकार इनकी स्वरूपावस्था का विश्लेषण करता हुआ कहता है कि "पञ्च" महाभूतान्येकादशेन्द्रियाणि त्रेति षोडश को विकार एवं न प्रकृतिरिति[5]" महयादि सप्त, बुद्धि, अहंकार, रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि पदार्थ प्रकृति भी है और विकृति भी। इसका कारण बताते हुए सांख्याकार यह कहते है कि क्योंकि सातो तत्व उत्पन्न भी होते है और उत्पाद भी करते हैं। अत: उत्पन्न होने के कारण विकृति है और उत्पादक होने के कारण प्रकृति हैं। महदाद्विप्रकृतिविकृतय: सप्त[6]।

---

4. ज.म.,पृ.4

5. त.कौ.,पृ.20

उदाहरण के लिए यहां महत् तत्व के उदाहरण से इस तरह इनके प्रकृति और विकृति रूप को जाना जा सकता है, क्योंकि महत् प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण यह प्रकृति या प्रधान का विकार है और वही जब अहंकार को उत्पन्न करता है तब वह अहंकार की प्रकृति है। इसी तरह अन्य तत्वों को भी प्रकृति और विकृति के रूप में सांख्यकार प्रस्तुत करते हैं।

पुरूष के सम्बन्ध में सांख्यकार का यह सिद्धान्त हैं कि वह न किसी से उत्पन्न होता है और न किसी को उत्पन्न ही करता हैं इसलिए न वह प्रकृति है और न ही किसी का विकार।

सांख्य दर्शन में इन सभी तत्वों का विभाजन कर उपरिलिखित के ही अनुरूप इन सभी का स्वभाव भी कहा गया हैं। साथ ही वहां यह विचार किया गया है कि इनमें से कौन तत्व नित्य हैं और कौन से अनित्य।

तत्व कौमुदीकार ने प्रकृति को साक्षात् और परम्परा रूप में महत्, अहंकार, तन्त्र मात्राओं, महाभूतों तथा इन्द्रियों का आदिकरण मानकर उसे नित्य, व्यापक, अहेतुमद् आदि स्वभाव का कहा हैं। पुरूष जिसके स्वरूप पर आगे विचार किया जायेगा, के अतिरिक्त प्रकृति ही एक ऐसा तत्व हैं जो नित्य हैं, व्यापक हैं, उत्पन्न कर्त्ता हैं। शेष सभी हेतुमान्, अनित्य, अव्यापी, सक्रिय, आश्रित और सावयवी हैं।

---

6. त.कौ.,पृ. 50-51, ज.मं., पृ.6

सांख्य दर्शन सत् कार्यवादी है क्योंकि इस दर्शन की यह मान्यता हैं कि प्रकृति सत् है और कार्य का कारणभूत प्रकृति में पहले से ही सत् रूप विद्यमान हैं। इसलिए जब वे "व्यक्त" समूह को अनित्य कहते है तो उनका तात्पर्य उस प्रकार की अनित्यता से नहीं है जिस से पदार्थ की अस्तित्व हीनता समझी जाए। इनका तात्पर्य केवल यही है कि उत्पत्ति के पूर्व सभी भावसत् रूप में कारण में विद्यमान होते हैं और यही हैं कि उत्पत्ति के पूर्व सभी भावसत् रूप में कारण में विद्यमान होते है और वे केवल प्रतिक्षण परिणामी स्वभाव वाले होते हैं। उनका परिणामी स्वभाव ही उन पदार्थो की अनित्यता हैं। तत्व कौमुदीकार इस विषय में अभाव की प्रत्यक्षतः को प्रमाणित करते हुए यह कहते है कि भूतल के प्रतिक्षण परिणाम का ही अन्य रूप पराभाव हैं, क्योंकि सभी धर्मो का स्वभाव प्रतिक्षण परिणामी स्वभावी हैं, चितिशक्ति के अतिरिक्त-एवमभावोऽपि प्रत्यक्षमेव। न हि भूतलस्य परिणामविशेषात् कैवल्यलक्षणात् अन्योघटाभावों नाम। प्रतिक्षण परिणामिनों हि सर्वएव भावाः । ऋतेः चिति शक्तेः[7]।

कारण में कार्य का सदवस्था में हेतु देते हुए सांख्यसूत्र में भाष्य में यह तर्क दिया गया हैं कि असत् कारण से कार्य की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं हैं। यदि ऐसा हो सकता तो नरश्रृंग की तरह असत् पदार्थो से उसकी उत्पत्ति देखी जाती- "नासदुत्पादो नृश्रङ्गवत्"। सांख्य कारिककार के इस सम्बन्ध में अनेकों तर्क हैं। वे कारण के सन्दर्भ में कार्य की सदवस्था के लिए जिन तर्को का आश्रय लेते है उनमें से कुछ तर्क इस प्रकार है कि इस लोक में असत् कारण नहीं हो सकता। बिना कारण के कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं होता। यदि असत् से उत्पत्ति होने लगेगी तो

7. त.कौ.,पृ. 50-51, ज.मं., पृ.6

सभी का सभी से उत्पाद सम्भव होने लगेगा। प्रत्येक कारण अपने कार्य को ही उत्पन्न करने में समर्थ हैं। अन्य कारण से उत्पन्न होने योग्य कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता क्योंकि कारण सत् हैं इसलिये उससे उत्पन्न होने वाला कार्य भी सत् ही होगा असत् कार्य नहीं हो सकता। जयमङ्गला में अपने इस तर्क की पुष्टि में यह उदाहरण दिया गया है कि कार्य सदा कारण स्वभावी ही होता है जैस स्निग्ध स्वभावी तिलों से स्निग्ध स्वभावी तेल ही प्राप्त होता है अथवा मृतिका से उत्पन्न घट मृत्तिकास्वभावी ही होता हैं, इसलिये सांख्य सत् कार्यवादी हैं।

तत्वकौमुदीकार की दृष्टि से अनित्यता का केवल यही तात्पर्य है कि पदार्थ जब तक तिरोभावी रहे तभी वह अनित्यरूप हैं। वे अनित्य का पर्याय विनाशी शब्द का भी प्रयोग करते है उत्पत्ति और विनाश शब्द संदर्भ में वाचस्पति मिश्र ने और तर्क दिये है और यह कहा हैं कि उत्पत्ति और विनाश का तात्पर्य असत् से उत्पाद और सत् के विनाश का तात्पर्य नहीं है वे उदाहरण देकर सिद्ध करते है कि जैसे कछुए के अंग उसके शरीर से निकलते है और फिर उसी के शरीर में तिरोहित हो जाते है वैसे ही सुवर्ण और मृत्तिका से आभूषण और घट का आविर्भाव तथा विनाश का स्वभाव हैं। वस्तु की सत्ता को सातत्य में क्रियाकारिता का व्यवहार भी उनकी दृष्टि से इसी तरह व्यहृत होता है। उनका कहना है कि सद् वस्तु में अनेक क्रिया का व्यहार उसी तरह सम्भव है जैसे एक अग्नि में प्रकाशकता, दाहकता, और पाचकता का प्रयोग सम्भव हैं। अर्थ क्रिया के व्यवहार से वस्तु भेद का व्यवहार सम्भव नहीं है-न चार्थक्रिया भेदोऽपि भेदमापादयति। एकस्यापि नानार्थ क्रिया दर्शनात्। यथैक एववन्हिर्दाहक: प्रकाशक: पाचक्श्चेति। नाप्यर्थक्रियाव्यवस्था वस्तुभेदे हेतु[8]।

---

8. त.कौ., पृ. 73

जब सांख्य और योग के समक्ष यह शंका उपस्थित की जाती है कि लोक में काल भेद के आधार पर वस्तु के लिए आसीत अस्ति और भविष्यति का प्रयोग होता है तब वस्तु की सातत्यता कैसे सिद्ध होगी तो वे इसका यह उत्तर देते है कि ऐसा व्यवहार कारण के सदा रहने पर ही होता है। अतीत काल में यदि मृत्तिका कारण में घट न होता, भविष्य में यदि घट नहीं होगा तो फिर काल का यह त्रिधा व्यवहार भी नहीं होगा। इसलिये वस्तु का अतीत अनागत रूप स्वरूपतः हैं, केवल उसक अध्व भेद का परिणाम हैं कि उसमें त्रिकाल का व्यवहार होता हैं–अतीतागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्[9]।

सांख्य दर्शन में आत्मा के सम्बन्ध में जो विचार किया गया हैं, वह पुरूषके नाम से कहा गया है। पुरूष का लक्षण देते हुए उसे कुछ अर्थो में अव्यक्त के सदृश और कुछ अर्थ में व्यक्त के सदृश कहा गया हैं। पुरूष अव्यक्त के सदृश और कुछ अर्ष में व्यक्त सदृश कहा गया है पुरूष अव्यक्त के तुल्य इस प्रकार हैं कि अहेतुक, नित्य, व्यापक, अक्रिय, अनाश्रित और निरवयव हैं किन्तु व्यक्त की सादृश्यता इसलिए उसमें हैं क्योंकि पुरूष एक नहीं अनेक हैं। जयमंगलाकार ने अपनी टीका में पुरूष के स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहा है कि पुरूष अनुत्पन्न होने के कारण नित्य हैं, पुरूष व्यापी हैं क्योंकि प्रकृति से मुक्त हैं। पुरूष में कर्तृव्य नहीं हे इसलिये वह कर्ता नहीं हैं। अनेक रूपों में पुरूष के होने के कारण उनका प्रकृति से वैरूप्य। इसी भांति वे विस्तार पूर्वक पुरूष के स्वरूप का वहां पर विवेचन करते है[10]।

---

9. यो.सू., पृ. 289

10.ज.मं.,पृ 15-16

पुरूष बहुत्व के सम्बन्ध में भी उनकी दृष्टि यह है कि यदि एक ही पुरूष की कल्पना की जाएगी तो लोक-स्थिति का सामन्जस्य शास्त्र सिद्धान्त से नहीं हो सकेगा। लोक में जन्म, मरण और इन्द्रियों में विकृति प्रतिव्यक्ति भिन्न-भिन्न देखी जाती है। यदि एक ही नित्य पुरूष होता तो एक की मृत्यु पर सभी की मृत्यु एक के जन्म पर सभी का जन्म और एक के इन्द्रिय विकार पर सभी को इन्द्रिय विकार होता किन्तु ऐसा न होने से और त्रिगुण की पृथक् प्रवृत्ति भी पुरूष की बहुतता को सूचित करता है और जिन धर्मो को प्रकृति तथा महादादि के रूप में कहा गया है उसे विषर्यय होने के कारण द्वारा अकर्ता के रूप में पुरूष सिद्ध हैं[11]। तत्वकौमुदीकार ने जीव की उत्पत्ति और मरण की स्थिति का स्पष्टीकारण करते हुए कहा कि निकाय विशिष्टों से पूर्व यह इन्द्रिय, मन, अहंकार, वेदनादि से पुरूष का अभिसम्बन्ध जन्म हैं। यह पुरूष का परिणाम नहीं हैं। क्योंकि यह अपरिणामी हैं। उन्हीं देहादि से पृथकता ही उसका मरण है आत्मा का विनाश नहीं है उसके कृटस्थ और नित्य होने से।

यहां जब सांख्य दर्शन पर बौद्ध प्रभाव का प्रश्न उपस्थित किया जा रहा है तो यह देखना उपयुक्त होगा कि बौद्धों की भांति ही सांख्य स्थिति को स्वीकार करता हैं। जैसे भगवान् बुद्ध ने कहा है कि जन्म, जरा, मृत्यु आदि यत्वद् व्यवहार जगत् में दुःख है[12] और इस दुःख स्थिति को जो जानता है वही सर्व ज्ञानी है क्योंकि दुःख से निवृत्ति का उपाय है[13]। ठीक इसी तरह से सांख्य कारिक भी अपनी प्रथम कारिका में ही दुःखत्रय के अभिघात के हेतु के लिये जिज्ञासा करती है और व्यक्त अन्यक्त तथा ज्ञ के ज्ञान में श्रेय देखती है[14]। भगवान् बुद्ध जब यह सिद्धान्त उपस्थित करते है कि दुःख, दुःख की स्थिति को जो जानता है वही सर्वयुक्त ज्ञान हैं तब वे मनुष्य के लिए ज्ञान की महत्ता को स्वीकार करते है और उसी को मनुष्य

11. ज.मं.,पृ. 26-27
12. म.व.(क.), पृ. 13
13. सु.नि. 5 (क.) पृ. 146
14. सां.त.को., पृ. 10,22

के श्रेय का आधार मानते हैं। सांख्य भी ज्ञान की इस महत्ता को स्वीकार करता है और दु:ख नाश के उपाय के लिए दृष्ट उपायों की भांति आनुश्रविक वैदिक क्रिया कर्मादि का निषेध करता हैं। उसकी दृष्टि से 'दृष्टिवदानुश्रविक: स ह्यविशुद्धि .क्षयातिशय युक्त: आनुश्रविक उपया दृष्ट उपायों की भांति अविशुद्ध और अतिशय युक्त हैं[15]।

सांख्य दृष्टि से कार्य सद्रूप हैं। वह कारण-व्यापार के पश्चात् सद् है और कारण-व्यापार के पूर्व भी। अपने इस सिद्धान्त के अनुरूप पातञ्जलयोग सूत्र जब वस्तु के वित्रकालास्तित्व का आख्यान करता है तब यह कहता हैं कि धर्मो के अध्य भेद से वस्तु का त्रिकाल व्यवहार होता हैं। ''अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभ्भेदाद्धर्माणम्''[16] और इस तरह वे भी कहना चाहते है कि वस्तु के नित्य सत् होने पर भी अध्वभेद से अतीत, अनागत और वर्तमान कालिक भेद ज्ञात होते है।

बौद्ध दार्शनिकों में विज्ञानवादियों दार्शनिक वस्तु की बाह्यसत्ता का निषेध करते हुए कहते है कि विज्ञान की विज्ञप्ति से ही बाह्य वस्तु की सत्ता का विज्ञापन होता है वाह्य वस्तु की वस्तु का अस्तित्व उसकी सत्तात्मकता के कारण नहीं ज्ञात होता हैं। वस्तु की बाह्य सत्ता के अभाव में भी उसका किसी देश और काल में कैसे भास होता हैं इस प्रश्न का उत्तर यह कहकर वैज्ञानिक देते है कि जैसे स्वप्न की वस्तुओं की असत्ता होने पर भी वस्तुएं किसी कार्य विशेष में अभिभासित होती हैं, वैसे ही वस्तु सत्ता के अभाव में भी वस्तुएं काल परिपेक्ष्य से भासित होती हैं, इस तरह से वस्तु के बाह्यास्तित्व के खण्डन के साथ-साथ काल का खण्डन भी करते है[17]।

---

15. सा.त.कौ., पृ. 22
16. पा.यो.सू., पृ. 416
17. म.शा.स्थि., पृ.4, विमा., पृ. 16,20

सांख्यतत्व कौमुदीकार भी वस्तु की सत्ता का नित्यत्व स्वीकार करते हुए काल के द्रव्य रूप के अस्तित्व का पक्षपाती नहीं हैं। उनका कहना है कि "कालश्च वैशेषिकाभिमत एको न अनागतादिव्यव्यहारभेदं प्रवर्तयितुमर्हति। तस्मादयं यैरूपधिभैदेरनागतादिभेद प्रतिपद्यते"। वैशैषिकों की भांति काल द्रव्यतः अस्तित्वशील नहीं हैं। यह उपादि भेद से ही प्रतिपादित होता हैं। और इस प्रकार विज्ञान वादियों की भांति सांख्य भी काल को द्रव्य के रूप में स्वीकार नहीं करता दिखाई देता हैं।

असद्वादी बौद्धो में विज्ञानवादी जब वस्तु की सत्ता का प्रत्याख्यान करते है तो वे वाह्य वस्तु की अस्तित्व का निषेध कर विज्ञान की सत्ता का प्रतिपादन करते है। उनकी दृष्टि से समस्त पदार्थ समूह की परिकल्पना विज्ञान के परिणाम की परिकल्पना हैं। " विज्ञानपरिणमोऽयं विकल्पों यद् विकल्पयते। तेनतन्नास्तिा"[18]। किन्तु जैसे वाह्य पदार्थ नितान्त असत् है वैसे विज्ञान नहीं है। विज्ञान की सत्ता उन्हें स्वीकार है और उसी विज्ञान की वासनाओं से वस्तु का द्रव्य में आभास होना स्वीकार हैं। यह आवश्यक है कि वह विज्ञान भी हेतु प्रत्यय जन्म होने के कारण नित्य और सद्भावी नहीं है।

सत्कार्यवादी सांख्या कारणभूत प्रकृति की नित्यसत्ता स्वीकार करता है किन्तु नित्य कारणभूत प्रकृति से समस्त व्यक्त कैसे उत्पन्न-लय होते है इसकी संगति बैठाते हुए ठीक विज्ञानवादियों की तरह तर्क देता है कि व्यक्त पदार्थो की उत्पत्तिलय उनका प्रतिक्षण होने वाला स्वभाव हैं। "प्रतिक्षण परिणामों हि सर्ब्बे एव भावा:[19]। इस सम्बन्ध में वाचस्पति मिश्र का यह तर्क हैं कि प्रकृति से उत्पन्न व्यक्त जब क्रमशः

---

18. वि.मा.,पृ. 293

19. त.कौ.,पृ. 50-51, ज.म.,पृ.6

प्रकृति में विलीन होते है तो उस विलीनता का केवल इतना ही अर्थ हैं कि वे कच्छप के बाहर निकले अंग की भांति पुनः उसके अंग संकोच की तरह प्रकृति में लीन हो जाते है इससे सत् विनाश का तात्पर्य नहीं है और इस प्रकार बौद्धों के विरूद्ध सत् सिद्धि के लिए प्रयत्न करते हुए भी संख्यवेत्ता विज्ञानवादियों के परिणाम वाद की छाया से अपने को मुक्त कर पाते है। जैसे विज्ञानवादी असत्भाव की सिद्धि करने के लिए विज्ञान की सत्ता स्वीकार कर समस्त वाह्य पदार्थो का विज्ञज्ञन का परिकल्प मानते है और उसकी सत्ता का निषेध करते है उसी तरह सांख्य नित्य कारणभूता प्रकृति की सत्ता का प्रत्याख्यान करते हुए भी व्यक्त पदार्थो की प्रकृति का परिणाम स्वीकार कर वस्तु नित्यता की स्थापना करते है।

बुद्धत्व प्राप्ति का प्रथम रात्रि में भगवान् बुद्ध ने इस जगत् के फलस्वरूप और उसके उत्पाद के हेतु प्रत्ययों का अनुभव करते हुए यह अनुभव किया था कि अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप, नामरूप से सडायतन प्रत्यय उत्पन्न होते हैं और इन्हीं के प्रति लोभ मान से सभी क्रमशः अविद्या तक विनिष्ट होते हैं। भगवान् का वस्तु उत्पत्ति के हेतु - प्रत्ययों द्वारा निर्धारण का यह प्रतीत्य समुत्पाद सिद्धान्त इतना सार्थक और प्रमुख सिद्धान्त है कि बाद में सभी बौद्ध वादियों ने इसी सिद्धान्त के आधार पर अपने विचारों को उपस्थित किया।

बुद्ध ने अविद्यादि द्वादश प्रत्ययों की जैसी गणना की हैं और उनमें जैसे पूर्वकारण अविद्या को माना हैं ठीक उसी तरह सांख्यदर्शन में भी पचीस तत्वों की गणना की गई हैं और इस गणना में प्रकृति की प्रमुखता तथा उसकी कारणता को प्रतिपादित करते हुए उसे ''मूलप्रकृतिरविकृतिः'' पद से अभिहित किया गया हैं।

इसके पूर्व कि यह कहा जाए कि सांख्य की इस पदार्थ गणना पर बुद्ध के प्रतीत्य समुत्पाद की गणना का प्रभाव हैं, हमें यह भी स्मरण करना चाहिए कि उपनिषदों में जहाँ सांख्य के इन तत्वों का संकेत हैं वहीं महाभारत और श्रीमद्भगवदगीता में स्पष्ट रूप से इन तत्वों का और इनके उत्पाद क्रम का संकेत प्राप्त हैं। तब यह प्रश्न उत्पन्न होता हैं कि बुद्ध द्वारा उपस्थित किए गए अविद्यादि की गणना पर सांख्य के इन पूर्व संकेतो का प्रभाव हैं अथवा बौद्धौ की गणना का प्रभाव सांख्य पर हैं क्योकिं कुछ विद्धान् यह भी कहते हैं कि बौद्ध दर्शन सांख्य का प्रवर्तन मात्र ही हैं[20]।

---

20. भा.द.। (राधाकृष्णन्), पृ 472

(ख) न्याय और वैशेषिक में -

न्याय दर्शन के आचार्य पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और आकाश को पंच महाभूतों के रूप में कहते हैं और इन्हीं इन्द्रियों की सृष्टि तथा इनके विषयों का उद्भव सिद्ध करते हैं - पृथिव्यापस्ते जो वायु राकाश मिति भूतानि[1]।

वैशेषिक दर्शन में धर्म का विस्तार बताते हुए उसे दृव्य, गुण, कर्म सामान्य विशेष और समवाय के रूप में कहा गया हैं। दृव्यों की संख्या पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल दिक, और आत्मा के रूप में नौ हैं - प्रथिव्या पसते जो वायु राकारां कालो दिगात्मा मन इति दृव्याणि। रूप, रस, गन्धादि गुण हैं। उत्क्षेपण अवक्षेपणादि कर्म हैं [2]।

वैशषिक आचार्य जिननव द्रव्यों की गणना करते है उनमें से पृथ्वी, जल, तेज, वायु को द्विविध रूप से आख्यात करते हुए इन्हें नित्य और अनित्य द्विधा विभाजित करते हैं। इनकी दृष्टि से नित्य वह पदार्थ है जो सत् और अकारण हो, जवकि शंकर मिश्र 'सत्' का अर्थ सन्तायोगी करते हैं। न्याय और वैशेषिक दोनो ही परमाणु सूक्ष्म और इसकी अपरिवर्तिता को मानकर उसे नित्य और सद्रूप स्वीकार करते हैं। अतः न्याय वर्तिक की तात्पर्य टीका में परमाणु का लक्षण करते हुए कहा गया हैं कि जो परमल विशिष्ट हैं और जिसकी सूक्ष्मता से जिसका अन्य छोटा विभाजन नही किया जा सकता, वह परमाणु हैं [3]।

---

1. न्या. (वा.) पृ.1-19
2. वै.द., पृ. 20-23
3. न्या. ता., पृ. 648

इसलिए पृथ्वी, जल, तेज, वायु, में परमाणु रूप महाभूत नित्य और सद्भावी हैं। जबकि परमाणु रूप के संयोग से स्थूल, पृथ्वी, जल, तेज, और वायु अनित्य हैं –सा च द्विविधा नित्या चानित्या च। परमाणु लक्षणा नित्या कार्य लक्षणात्व नित्या[4]।

वैशेषिक वादी आकाश, काल, दिन, और आत्मा तथा मन को नित्य पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में उनके तर्क हैं कि आकाश और काल एक हैं इनके अनेकत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती। अथ, श्वः परश्वः उपाधि भेद से की गई प्रतीति हैं। काल भी उत्पन्नि, स्थिति और विनाश की त्रिविधिता से तीन प्रकार का प्रतीत होता हैं जबकि ऐसा हैं नहीं। क्योकि माधव इस सम्बन्ध में तर्क देते है कि काल का उत्पत्ति स्थिति और विनाश नही होता अपितु, पदार्थो की उत्पत्ति स्थिति और विनाश के व्यवहार से काल का व्यवहार होता हैं।

न्याय वैशेषिक के आचार्यो द्वारा इस प्रकार से नव दृव्यों में से पृथ्वी, जल, तेज, वायु को द्विविध रूप से नित्य तथा अनित्य कहे जाने पर यह प्रश्न होता है कि सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रिया क्या हैं। इसके उत्पाद और विनाश को देखा ही जाता हैं इसलिए वे आचार्य यह मानते है कि परमेश्वर की इच्छा से आत्म परमाणु के संयोग से द्वयणुक, त्रसरेणु आदि कम से महा वायु आदिक सृष्टि की संरचना होता है[5]।

किन्तु जब ईश्वर सभी प्राणियों को विक्षाम देना चाहता है तब वह ब्रह्मा के सौ वर्ष के काल की अवधि के पश्चात् आत्मा और संयोग का विभाग कर अपर

4. प्र.भा., पृ. 79
5. प्र.पा., पृ. 133

परमाणु तक सभी विभाग कर सृष्टि का संहार कर देता हैं। इस प्रक्रिया में पृथ्वी, जल, तेज, वायु महाभूत इसी क्रम से पूर्व-पूर्व अणु से विभाजित होकर नष्ट हो जाते हैं, और अणु ही शेष रहता हैं। पदार्थो की नित्यता और अनित्यता के सम्बन्ध में तात्पर्य टीका में विशेष रूप से अलिाडन किया गया हैं। वहॉ आचार्य ने नित्यत्व और अनित्य के विषय में विशद विचार करने के बाद कहा है धर्मा त्रिविध प्रकार से नित्य अनित्य के विभाजन में देखे जा सकते हैं - परिणाम लक्षण, धर्म लक्षण और अवस्था लक्षण। उदाहरण के लिए वे कहते हैं कि जैसे स्वर्णकारण स्वर्णाभूषण को तोडकर अन्य स्वर्णाभूषण बनाता है तो इसमें प्रथम आभूषण अपने वर्तमान स्वरूप को त्यागता है अतीत रूप प्राप्त करता हैं। दूसरा आभूषण अतीत से वर्तमान में आता हैं। किन्तु और वहीं, नवीन, पुराना आदि का भाव प्राप्त करता हैं। इस प्रक्रिया में धर्मी स्वर्ण नित्य हैं किन्तु उसके परिणाम आभूषणादि, उत्पत्ति और विनाश के भेद को प्राप्त होते है। इसलिए सिद्धान्तकार यह प्रतिपादित करता हैं कि न तो सभी नित्य है और न सभी अनित्य है।परमाणु, नित्य और अविनाशी हैं, जबकि प्रथ्वी, जल, तेज और वायु का स्थूल रूप विनाशी हैं। नित्य और अनित्य दृव्य की कोटियों को वैशेषिक कार उसकी परिमाणावस्था से भी सिद्ध करते हैं। अणु भी इनके मतानुसार अपने परिमाण के अनुरूप नित्य और अनित्य होता हैं। नित्य अणु परिणाम परमाणु तथा मन से समवेत होता है जैसा कि वैशेषिक सूम नित्य' परिमण्डलम्' सूत्र से संकेत करता है [6]।

6. वै.द.(3) पृ. 260

जबकि द्वयणुक में अनित्य अणु परिभाव रहता है। लोक में यह घर ऊपर घर से अणु हैं यह केवल व्यवहार मात्र है। द्वयणुक में रहने वाला अनित्य अणु परिणाम गौण व्यवहार ही अणु परिमाण की सत्ता का अनुमापक भी है उपस्कार कार कहते है 'विद्यालिङ्ग' मविधा तदपतर्घः कुवलामलकादानणु - त्वशानं समिदिक्षु प्रमृतिषु हस्पत्व ज्ञानं ताव दविधा तम पारमार्थिकाणुत्व हस्वत्वयोरभा वात् सर्वत्रा प्रभा प्रभवूर्विकैव भवर्ता व्यन्य थाख्याति वादिभिरम्यूपगमान्ताधा च सत्यमणुत्वज्ञानं सत्य चहस्वत्वज्ञान मनु मेय मित्यर्थः ।

वस्तु के उत्पन्ति, विनाश के क्षर्णो को निर्धारित करते हुए न्याय वैशेषिक आचोर्य ने बहुत सूक्ष्मता से विचार कर अपने - अपने मत दिए है। वस्तु की उत्पत्ति के क्षण से उसके विनाश के समय तक कितने क्षण का काल होता हैं। इस सम्बन्ध में किरणावलीकारने नव्य नैयापि को के द्वयणु का नाश, परमाणु अग्नि संयोग श्यामता की निवृत्ति से रक्तिमा की उत्पत्ति, रक्तिमा की उत्पत्ति से उत्तर संयोग और पूर्व क्रिया निवृत्ति तथा आत्मा और अणु के संयोग से परमाणु में द्वयणुक संयोग की क्रिया, क्रिया से पूर्व - पूर्व देश का विभाग - विभाग से पूर्व देश का संयोग नाए उसके नाश से दूसरे परमाणु से संयोग की उत्पत्ति संयुक्त परमाणुओं से द्वयणुक का आरम्भ, द्वयणुक कारण रूपादि कार्य गुणादि की उत्पत्ति के क्रम के नवक्षर्णो का उल्लेख कर अपना मत दिया हैं और इस मत समालोचना की है। साथ ही उन्होंने दशाक्षण तथा एकादश क्षर्णो को स्वीकार करने वालों का विस्तृत विवेचना किया हैं[7]।

---

7. वही. पृ. 260

वस्तु की उत्पाद और विनाश प्रक्रिया के क्षणों का जहाँ निर्धारण न्याय वैशषिक कारों ने किया हैं वही उदयनाचार्य ने क्षण की भी परिभाषा की है। वे क्षण की परिभाषा देते हुए कहते है कि उत्पन्न दृव्य जब तक गुण धारण करता है अथवा अन्त्य तन्तु के संयोग से जब तक पर नही उत्पन्न होता, उत्पन्न कर्म से जब तक विभाग नही होता उतना काल क्षण है। अथवा वे यह कहते है कि सामग्री जब तक कार्य रहित होती है तब तक क्षण होता है गणितीय दृष्टि से ऑख की पलक का एक कार्य मात्र क्षण है। वात्स्यायन न्यायमाष्य में क्षण की परिभाषा बताते हुए कहते है कि 'क्षणश्चल्पीयान्कालः क्षणिस्थिति का, क्षणिकाः' अल्पकाल को क्षण कहते है और इसलिए जो पदार्थ क्षण स्थायी है। वह क्षणिक है [8]।

आत्मा के सम्बन्ध में विचार करते समय प्रशस्त पाद भाष्प में यह कहा गया है कि आत्मत्व के सम्बन्ध में आत्मा की सिद्धि होती है। सूक्ष्म होने से प्रत्यक्षतः उसकी उपलब्धि होने पर भी इन्द्रियों द्वारा विविध विषयों के ग्रहण के अनुमान से उस आत्मा की अनुमति होती है। उदाहारण के लिए वे यह कहते है कि शरीरका चैतन्य घट की तरह किसी प्राणी का निमार्ण न ही हो सकता, क्यों कि भूत की मृत्यु होने से यह असम्भव होगा। सृष्टि में सभी विषयों के ज्ञान के लिए तथा उनको प्रवृत्रि के लिए इन्द्रियों समर्थ है। चक्षु से रूप, प्राण से गन्ध त्वचा से स्वर्थ, जिव्हा से रसादि का परिज्ञान नियत है। इस स्थिति में इन्हीं के संधात को ही यदि आत्मा कहा जाए तो क्या हानि है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वैशेषिक आचार्य यह प्रतिपादित करता है कि इन्द्रियों के स्व-स्व विषय का ग्रहण कर लेने से ही आत्मा के अस्तित्व को नही नकारा जा सकता। कोई भी एक इन्द्रिय सर्वज्ञ नहीं है और

---

8. न्या. (वा.) पृ. 190

वह अपने विषय से भिन्न अन्य विषय का ग्रहण नही कर सकती। जब किसी इन्द्रिय को अपने विषय का ज्ञान होता है तो उसी समय अन्य विषयों का भी ज्ञान होता है जो इन्द्रियातिरिक्त चेतन आत्मा द्वारा ही सम्भव है। इसी तरह न्याय दर्शन की दृष्टि से आत्मा अनित्य और मरण धर्मा न होकर नित्य और सार्वकालिक अस्तित्व वाली है। आत्मा की नित्यता का ही फल हैं कि वह एक शरीर छोडकर दूसरा शरीर धारण करती है यदि आत्मा अनित्य और मरण धर्मा होगी तो फिर उसकी उत्पत्ति नही। -आत्म नित्पले प्रेत्यभाव सिद्धि [9]।

न्याय वैशेषिककार ईश्वर की अनिवार्यता और जगत कारण रूप में उसकी उपस्थापना करके ईश्वर में संख्या, परिमाण, पृथकत्व संयोग विभाग तथा वृद्धि की सत्ता मानते है[10]।

न्याय और वैशेषिक आत्मा को दृव्य रूप में स्वीकार करते है। वह दृव्य होते हुए तथा प्रति-प्रति शरीद में भिन्न होते हुए भी विभु और व्यापक है। इसमें हेतु वह है कि संसार में प्रत्येक व्यक्ति की पृथक-पृथक व्यवस्था है। कोई धनवान हो कोई निर्धन है, कोई सुखी है, कोई दुखी है, कोई विद्वान और मूंढ है। इसी तरह जैसे आकाश महान हैं उसी तरह अपने वैभव के कारण आत्मा भी विभु है। उसक ज्ञान और सुखादि कार्यो के कारण वह भी विभु है यह आत्मा भिन्न-भिन्न होते हुए भी नित्य है। इसका कभी विनाश नही होंता है। यदि आत्मा का नित्य भाव सिद्ध नही किया जाएगा तो उसके मरने पर उसका दूसरा जन्म भी सिद्ध नही हो सकेगा। आत्मा के नित्य होने का ही यह थल है कि शरीर के विनाश होने के पहले वह शरीर

---

9. न्या. (वा.) पृ. 233, कि. पृ. 363
10. न्या. वा. (क.) पृ. 951

का त्याग कर देता है और दूसरे शरीर को ग्रहण कर लेता है। यदि यह माना जाएगा कि शरीर के साथ आत्मा का भी विनाश हो जाता है तो फिर यह कैसे कहा जा सकेगा कि जो कर्म करता है वही फल का भोक्ता होता है। 'नित्योदयमात्मा प्रैति पूर्व शरीरं जहाति म्रियत इति प्रेत्य च पूर्व शरीरं हिता भवति जायते शरीरान्तर मुपादन्त इति तच्चैत तदुभमं पुन रूतपन्ति प्रेत्य भावः इति तच्चैत न्नित्यत्वे संभवतीति[11]।

आत्मा के नित्यत्व में एक यह भी प्रमाण है कि स्मृति उसका गुण है। आत्मा ही भूत,वर्तमान और भावेष्य को स्मरण करती है। यह त्रिकाल का ज्ञान प्रत्येक के अनुभव से सिद्ध है। यदि आत्मा नित्य न हो तो त्रिकाल का स्मरण करना अनित्व स्वभावी पदार्थो के लिए सम्भव नही होगा।

परमेश्वर अथवा परमात्मा की सर्वसत्ता, व्यापकता, एक रूपता के साथ-साथ आत्मा की अनन्तता होने पर जब मनुष्य की मुक्ति दशा होती तब या कि सृष्टि का विनाश होता है तब आत्मा अन्य द्रव्यो की भांति सृष्टि रचना से उपरत होकर वर्तमान रहती है। न्यायवार्तिक में यह कहा गया है कि आत्मा का दुःखादि से वियोग मुक्ति है कस्यतहर्यपर्भः यो डपवृजपते। कोडपवृज्यते। आत्या। अथ का अपवृक्तिः। दुःखादिमि वियोग इति ।

जबकि प्रशस्त पाद भाष्य में सृष्टि के संहार क्रम में यह बताया गया है कि परमेश्वर जब जीव को विश्राम देना चाहता है। तो शरीर - इन्द्रिय - आत्मा-परमाणु का वियोग कर अन्तिम परमाणु तक सभी का विभाग कर देता है। इस समय सभी

---

11. न्या. (वा.) पृ. 233

12. न्या. (वा.) पृ. 287

परमाणु विभक्त होकर धर्म अधर्म संस्कार से विद्ध आत्मा वाले स्थित रहते हैं। - ततः प्रविभन्क्ताः परमाणवोर्ड व तिष्ठन्ते धर्मा धर्म संस्कारानु विद्धाश्चात्यान स्तावन्तमेव कालम्[13]।

भगवान बुद्ध न शाश्वत वादी है और न ही अशाश्वत वादी है। वे प्रत्येक वस्तु क विभाग कर देखते है और तब वस्तु के अस्तित्व तथा नास्तित्व के सम्बन्ध में विचाार करते है। इसी के साथ वे यह भी बार-बार विचार करते है कि क्या रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के अतिरिक्त जिसकी समन्विति ही पुरूष अथवा पुद्गल या जीव का प्रज्ञप्ति पाती है आत्मा। अपने इस प्रकार के विचार में भगवान जब पदार्थ के अस्तित्व के सम्बन्ध में शिष्यों के समक्ष अपना अनुभव रखते है तो वे उसे प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त से सिद्ध करते है। इस सृष्टि में भावत् पदार्थ है। वे सभी प्रतीत्य समुत्पन्न हैं उनकी दृष्टि से अविद्या से संस्कार और संस्कार के विज्ञान के क्रम से वस्तु उत्पत्ति का क्रम है। संसार की यथार्धता साक्षात्कार करते हुए भगवान् ने बुद्धत्व प्राप्त कर ज्ञान सुख का अनुभव कर यही अनुभव कर यही अनुभव किया था कि इसके होने पर यह उत्पन्न होता है और इसके न होने पर यह नही होता है। वस्तु का सार्वकालिक अस्तित्व और बिना हेतु प्रत्ययों के उसकी अस्तित्व की सिद्धि नही हो सकती।

वस्तु सत्ता के सम्बन्ध में विज्ञान वाद का मत प्रकट करने वाले त्रिशि का कार का यह कहना है कि जो भिन्न रूपों में जगत् प्रवर्तित दीखता है वह आत्म

13. प्र.भा. पृ. 132

धर्म का उपचार पाता हुआ भी विज्ञान मात्र ही है। जबकि शून्यवादी वस्तु को स्वप्न देखी गई वस्तु के सहश स्वभाव शून्य, भृग तृष्णा की भॉति सत्ता रहित मानते है। इससे पूर्व जब हम न्याय वैशेषिक पर वौद्ध विचारों के प्रभाव की समीक्षा प्रारम्भ करें यहॉ यह भी सात कर लेना उपयुक्त होगा कि न्याय वैशेषिक दर्शन की परम्परा भले ही वैदिक काल से बताई जाती हो किन्तु इस दर्शन के महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना द्वितीय शदी के पहले नहीं हुई थी। डा0 याकोबी ने अपने एक लेख में लिखा है कि न्याय सूत्र कर रचना समय द्वितीय शताब्दी से पूर्वो शताब्दी ई0 तक का हो सकता है। जब कि डा0 उई वैशेषिक सूत्रो की रचना का काल ई/0 50 से 150 ई0 तक के बीव कर बतरते है[15]।

वैसे भी वौद्धो के विज्ञान वाद का और शून्यवाद का प्रत्याख्यान करके न्याय सिद्धान्त वादियों ने वौद्धो की पूर्व सत्ता स्वीकार की ही है[16]। वैशेषिक आचार्य भी बौद्धो के मतों का उल्लेख कर उनका खण्डन करते ही हैं।

वस्तुओं की अनित्य स्थिति के सम्बन्ध में और अधिक तर्क देते हुए न्याय भाष्‍ कार ने यह कहा है कि यदि सभी की अनित्यता ही नित्य है। तो उसकी के हचित्म होने से अनित्यता का खण्डन होता है। फिर जिसका उत्पन्न और विनाश धर्म प्रमाणतः उपलब्ध है वही अनित्य हो सकते है आकाशादि उत्पत्ति निरोध लक्षण वाले नही है इसलिए वे अनित्य नही है वैशेषिक दर्शन में भी पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश दृव्यो को नित्य और अनित्य के भेद से विभ।ाजित करते ही है[17]।

---

14. जनरल ऑफ दी अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, ख. 31
15. वै.फि. पृ. 65
16. न्या.भा. 4/2/26, 4/1/40, 4/1/48
17. प्रा.भा. पृ. 79

इसी प्रकार क्षण वादियों की वस्तु के त्रिकाल अस्तित्व के विरोध का खण्डन कर न्याय कार कहते है कि यदि भूत, भविष्यत्, काल नही होगा तो वर्तमान काल का अस्तित्व सावित नही होगा। इस में वे यह हेतु देते है। कि प्रयोजन का अवसान क्रिया सन्तानता की उपर मता अतीत काल संज्ञक है। क्रिया का आरम्भ वर्तमान संज्ञक है। क्रिया की अनारम्भ की चिकीर्षा अनागत काल संज्ञक है क्रिया संतानो ऽनारब्धश्चिकी र्षितोऽ नागतः कालः पक्ष्यतीति। प्रयोजनाव सानः क्रिया सन्तानो परमः अतीतः कालोऽ याक्षीद् इति। आरब्ध क्रिया सन्तानो वर्तमानः कालः पचतीति[18]।

और इस तरह हम देखते है कि उनका काल का यह सिद्धान्त स्थविरवादी और वैभाषिकों की वस्तु सत्ता के समान ही है। क्योकि इन दार्शनिकों का भी यही मत है[19]।

वौद्धो के वस्तु के अस्तित्व के पक्ष को उपस्थित कर न्यायभष्यकार ने यह कहने का प्रयत्न किया है कि सर्व नास्तीति नो प पद्यते' सही नही है - ऐसा कहना उपयुक्त नही है। वे तर्क देते है कि यदि सही नही है ऐसा कहना प्रमाण पुरस्सा है तो यह कहना ही निरर्थक होगा। साथ ही यदि वाहय पदार्थ वस्तु सत् न होगें तो स्वप्न ही सम्भव नही हो सकते। हेतु के अभाव से कार्य ही असिद्धि होगी[20]।

वस्तु की सत्ता की दृष्टि से शून्य वादियों की दृष्टि का खण्डन करते हुए वे कहते है, कि स्थाणु में पुरूष की प्रतीति मिथ्या उपलब्धि है, क्योंकि उसमें (स्थाणु) पुरूष के सामान्य लक्षण से होती और स्थाणु के व्यवसाय से यह असत् ज्ञान नष्ट होता है।

---

18. न्या. भा. पृ. 89

19. अ.को. 5/24, 1/7, अ.नि. 261

20. न्या.भा. पृ. 234

भाष्यकार वस्तु की उपलिब्ध और अनुषलब्धि के आधार पर कहते है कि सत् - असत् के उपलब्ध की विधा दो प्रकार की है। इसी भॉति सत् असत् के अनुपलम्भ से अविधा दो प्रकार की है- सद संतो रूप लम्भ।द्विधा द्विविधा सद संतो रनुपलम्भ।द विधापि द्विविंधा[21]।

तात्पर्य टीका में आचार्य ने इसकी व्याख्या कर कहा कि उपलब्धि विधा है और अनुपलब्धि अविधा है। सत् उपलब्ध होता है जैसे तालाब में जल, और असत् भी उपलब्ध क्या होता जैसे मृगतृष्णा में जल।

वैाद्ध दृष्टि से अविधा का विश्लेषण करते हुए बुद्ध घोष ने यह कहा था कि अविधामान स्त्री, पुरूषादि देखना और विधमान स्कन्धादि न जानता अविधा है। जिसके प्रभाव को स्वीकारा, न्याय वैशेषिक दार्शनिको ने भी सद् असत् रूप में वस्तु की सत्ता को स्वीकारा अविधों दृष्टि से असत् उपलब्धि को कहा हैं,

न्याय वैशेषिक की दृष्टि जीव को अपवर्ग प्राप्त करना है और इसकी प्राप्ति के लिए वे यह कहते है कि दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष मिथ्याज्ञाना नामुन्तरोन्तरा पापे तदन्तरा भंवात् अपनभः [22]।

भगवान बुद्ध को बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात प्रतीत्य समुत्पाद के अनुभाव से जो अनुभव हुआ उसका भी यही उददेश्य है कि अविधा प्रत्यय से संस्कार यदि उत्पन्न होते है। और अविधादि के क्रमशः निरोध से संस्कारादि का निरोध होता है। वे भी दुःख को ही पंच स्कन्ध रूप मानते है।

---

21. वही. पृ. 226-227

22. न्या. (वा) 1/1/2

(ग) वेदान्त दर्शन में :-

आचार्य वादरायण के ग्रन्थ ब्रहमसूत्र में अनेक ऐसे प्राचीन आचार्यो का उल्लेख है, जिनके सन्दर्भ में यह कहा जा सकता हैं कि ये वेदान्त दर्शन के प्राचीन आचार्य थे। आचार्य बादीर[1] आश्मरथ्य [2] काशकृत्सन[3] जैमिनि[4] आदि का उल्लेख इस बात का संकेत करता हैं कि ये आचार्य किसी न किसी रूप में बृहमसूत्र के पूर्व अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक थे। इसमें से बृहम सूत्र के सन्दर्भ में तो इतिहासविदों में मतभेद है कि यह ग्रन्थ कितना प्राचीन है, फिर भी बुद्ध दर्शन के प्रारम्भिक समय के पश्चात् का इसे इसलिए स्वीकार किया जाना चाहिए, क्योंकि इसमें सर्वास्तिवाद और विज्ञानवाद के खण्डन के सन्दर्भ उपलब्ध है।

शंकराचार्य के पूर्व जिन विद्वान आचार्यो का उल्लेख होता हैं, उनमें उपवर्ग बोधायन, ब्रहमदत्त, गोडपाद आदि आचार्य वेदान्त सिद्धान्तों के प्रतिपादक माने जाते हैं किन्तु इनका भी प्रामाणिक कृतित्व उपलब्ध नहीं हैं।

एक मत यह हैं कि शंकराचार्य 508 ई0 पूर्व में हुए थे और 476 ई0 पू0 में उनका देहत्याग हुआ था। बेवर यह मानते हैं कि शंकर अष्टम शताब्दी में थे। लेविस राइस ने अपने निबन्ध में यह बताया हैं कि शंक 740 से 767 ई0 तक जीवित थे[7]।

वर्तमान समय में यही मान्यता हैं कि शंकराचार्य अष्टम्-नवम् शताब्दी में थे[8]।

---

1. ब्र.सू. 1/2/30, 4/3/7
2. वही 1//29, 1/4/20
3. वही 1/4/22
4. वही 1/2/31
5. ब्र.सू. 3/3/53
6. बृह. 1/4/7
7. प्रो.ओ.का., पृ. 225, वे.द. (पास), पृ.34
8. अच्युत, पृ. 25-26, वे.द. (पाल), 34

उपनिषद् जब जगत् और आत्मा के सम्बन्ध में विचार करती हैं तब वे विविध रीति से अपनी बात उपस्थित करती हैं। कभी यह कहा जाता हैं कि जिससे ये सम्पूर्ण जीव उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न होकर पलते हैं, और जिसमें पुनः विलीन हो जाते हैं उस ब्रहम की जिज्ञासा करो[9]। कभी यह कहा जाता है कि यहॉ सृष्टि में सर्वप्रथम जल ही था, जल से सत्य हुआ, सत्य से ब्रहमा[10]। जबकि कठोपनिषद् में ऋषि सृष्टि के आदितत्व का आख्यान करता हुआ कहता है कि अग्नि ही इस भुवन में प्रविष्ट होकर प्रति-प्रति रूप धारण करती है[11]। कहीं-कहीं यह कह दिया जाता है कि पहले असत् था। असत् से सत् की उत्पत्ति हुई फिर मृत्यु से सभी आवृत होना स्वीकर किया जाता हैं और यह कह दिया जाता हैं मृत्यु से सभी कुछ आच्छादित है[12]।

इसी प्रकार से उपनिषदें जब आत्मा और ब्रहम के स्वरूप का विचार करती हैं तब भी उनकी विचार - प्रणाली में विविधता का लक्ष्य होता हैं। कठोपनिषद् जब आत्मा और ब्रहम के स्वरूप का विचार करती हैं तब भी उनकी विचार प्रणाली में विविधता का लक्ष्य होता है। कठोपनिषद् में आत्मा की व्यापकता का वर्णन करते हुए कहा गया कि वह एक हैं किन्तु सर्वभूतों में उसी तरह व्याप्त है, सर्वभूतों में उसी की भॉति अन्तरात्मा हैं जैसे एक अग्नि सर्वजगत् में व्याप्त होकर प्रति-प्रतिरूप में लक्षित होती है[13]। अथवा आत्मान्वेषण का उद्बोधन करता हुआ ऋषि आत्मा वा अरे दृष्टव्यः[14] का उपदेश देता है। वृहदारण्यक में ही आत्मा को पुरूष का पर्याय बताकर कहा गया कि मैं आत्मा हूॅ - ऐसा जानना चाहिए और फिर छान्दोग्योपनिषद् की वह कल्पना भी समक्ष हैं जिसमें इस सम्पूर्ण जगत् को ही ब्रहम रूप कहकर ब्रहम के सर्व व्यापाक रूप को स्वीकार किया गया।

---

9. तै. उ. 3/1
10. वृह. 5/5/1
11. कठ 2/5
12. वृह. 1/2/1-2
13. कठ., 5/9-10
14. बृ. 2/4/5

सृष्टि के अविर्भाव और पदार्थ के स्वरूप के विषय में तथा आत्मा की सिद्धि के लिए उपनिषदों के इन विचारों से यदि कोई निष्कर्ष भूत तत्व प्रस्तुत करना हो तो यही कहा जा सकता हैं कि उपनिषदें अपने विचार के प्रारम्भिक स्वरूप में भी एक निश्चयात्मक और तर्क पूर्ण दृष्टि से तत्व चिन्तन का प्रयास कर रही थीं।

वृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सो कायमत इत्यादि वाक्य का व्याख्यान करते हुए आचार्य शंकर यह कहते हैं कि आत्मा ही सर्व प्रथम थी। यह आत्मा ही हैं जिसे अविद्वान कारण-कार्य सम्बन्ध और आत्म ग्रह आदि के सम्बन्ध से कहता है।

ऐतरेयापनिषद् में ''ऊँ आत्मा वा इदऐक एवाग्र आसीत्'' वाक्य की व्याख्या में शंकराचार्य ने आत्मा के सर्व व्यापाक रूप की व्याख्या करते हुए यह कहा कि आत्मा इतर-तर को व्याप्त करती हैं, सर्वशक्तिमत् होने के कारण आत्मा सभी संसार धर्मो से पृथक् हैं। वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभावी हैं। उसका विश्लेषण उपनिषदों के पूर्व आधार पर तथा ब्रहमसूत्र और शंकर के कृतित्व के आधार पर ही किया जा सकता है। इसमें से ब्रहमसूत्र और शंकर के सिद्धान्त-स्थापना का समय निश्चित रूप से बुद्ध के बाद का काल ही हो सकता हैं। बाद में शंकर के सिद्धान्तो को सुदृढ करने के लिये वाचस्पति मिश्र ने अपनी मामती टीका द्वारा वेदान्त दर्शन को पुष्ट किया।

बौद्ध प्रभाव की समीक्षा के लिए मूल रूप से इन्हीं कृतियों को ध्यान में

रखना समीचीन होगा और ब्रहमसूत्र, शंकराचार्य के भाष्यों तथा भामती पर बौद्ध प्रभाव की समीक्षा करना यहाँ अभिप्रेत होगा।

आत्मा से जगत् उत्पत्ति के सम्बन्ध को कारणकार्य की दृष्टि से अख्यात करते हुए शंकराचार्य का यह दृष्टिकोण हैं कि कारण और कार्य की समानता के ग्रहण किये जाने पर भी आत्मा और जगत् में ऐक्यभाव नहीं सिद्ध किया जा सकता। जहाँ आत्मा नहीं होगी, वहाँ उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए उत्पत्ति के पूर्व कारण से कार्य की अनन्यता होने पर भी कारण कार्य की अनन्यता ही होगी।

भामतीकार भी शंकर के इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए विभिन्न तर्क देते हैं और यह कहते हैं कि सत्ता एक ही कारण कार्य की होती हैं। प्रति व्यक्ति में पृथक्-पृथक् उसकी सत्वशीलता का भेद नहीं होता। इसलिए सत्ता की अभिन्नता से कारण रूप आत्मा और कार्यरूप संसार भी अभिन्न हैं।

ज्गत् की उत्पत्ति और विनाश की स्थिति का विवरण देते हुए यह स्वीकार किया गया हैं कि सद् रूप ब्रहम की जगत् का आदि कारण हैं और उसी से यह जगत् विकार भूत रूप उस प्रकार उत्पन्न होता हैं जैसे एक ही मिट्टी के पिण्ड सेघटादि का निर्माण होता हैं मिट्टी रूपी कारण ही घटादि अन्य सम्पूर्ण विकार जगत् को ज्ञात कर देती हैं। परमार्थतः मिट्टी ही सत् हैं और घटादि उसके विकार हैं। वाणी के आलम्बन मात्र हैं। इसी प्रकार आत्मा ही एक मात्र सत् हैं अन्य सभी नाम आदि वाणी के आलम्बन मात्र ही हैं, वस्तुरूप में आत्मा से पृथक् नहीं।

आत्मा की सद्वस्था से सृष्टि के पदार्थो की उत्पत्ति की अन्विति इसलिए तर्क संगत दृष्टिगत होती हैं, क्योंकि सत् कारण से ही कार्य की उत्पत्ति का अन्वेषण किया जा सकता हैं। उदाहरण के लिए तन्तुओं से ही पट की उत्पत्ति होती हैं - तन्तसंस्थाने पटे तन्तुव्यतिरेकेण पटो नाम कार्य नैवोपलम्यते[15]।

कारण रूप ब्रहम और कार्य रूप सृष्टि का इस प्रकार का कारण कार्य सिद्धान्त स्थापित करने बाद सृष्टि की नित्यता और अनित्यता का प्रश्न भी शंकर के समक्ष उपस्थित होता हैं। इन प्रश्नो के समाधान में तो वे तर्क देते ही हैं, उपनिषदों में जहॉ असत्, मृत्यु आदि की चर्चा की गई हैं उसे भी अपनी व्यवस्था के अनुकूल प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं।

तैत्तरीयोपनिषद् में जब उपनिषद्कार "असद्वा इदमग्र आसीत" आदि वाक्य कहकर असत् से सत् की उत्पत्ति का आख्यान करते हैं और उसी के बाद आत्मा की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं तब आचार्य शंकर "असत्" शब्द की व्याख्या करते हुए यह कहते हैं कि यहॉ उपनिषद्कार का तात्पर्य सद् भिन्न सत्ता से नहीं हैं। वे यह व्याख्यान करते हैं कि नाम, रूपादि व्याकृत विभाग से विपरीत अविकृत ब्रहम ही असत् पदवाच्य हैं। अत्यन्त असत् तत्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती हैं, क्योंकि असत् तत्व से सत् तत्व की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती।

ब्रहम सूत्र में इसी असत् शब्द की व्याख्या में शंकराचार्य यह तर्क देते हैं कि यह वाक्य अपवाद लक्षण से कहा गया हैं, क्योंकि नामरूपादि व्याकृत वस्तुएं प्राय:

---

15. ब्र. शा.भा., पृ. 464

सतः शब्द से व्यवहृत होती हैं, उनसे विपरीत भाव व्यक्त करने के लिए ही उत्पत्ति के पूर्व ब्रहम असत् थे यह उपचार किया गया। किन्तु इसका तात्पर्य नितान्त असत्ता के भाव प्रदर्शन से नहीं है[16]।

इसी प्रकार से वृहदारण्यक में यह कहता है कि ''मृत्युनैवेदमावृतमासीत'' तब शंकर मृत्यु की स्वरूपावस्थिति पर विस्तृत विचार करते है। और विभिन्न तर्क देकर यह कहते हैं कि यहाँ पर भी मृत्यु से ऋषि का तात्पर्य सत्ता हीनता नहीं हैं। वे अपनी व्याख्या में कहते हैं कि उत्पत्ति के पूर्व कार्य नहीं था किन्तु कारण तो विधमान था ही। उनका तर्क यह हैं कि घट उत्पन्न होता हैं और वह अपनी उत्पत्ति के पूर्व नहीं होता किन्तु कारण रूपा भृत्तिका तो होती हैं, उसका अनस्तित्व नहीं कहा जा सकता। उनका यह तर्क भी हैं यदि उत्पत्ति के पूर्व कुछ नहीं था तो मृत्यु से कौन आवृत था, क्योंकि आकाश कुसुम और बन्ध्यापुत्र का अस्तित्व नहीं होता। इसलिये मृत्यु से आवृत का तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति के पूर्व, जब नाम रूपादि का व्याकरण नहीं हुआ था तो कारण भूत ब्रहम या आत्मा थी। श्वेत केतु के दिये गये उपदेश से शंकराचार्य इसकी पुष्टि करते है और यह कहते है कि जैसे मृत्पिण्ड से कटादि उत्पन्न होते है और वे सभी वाचा के विकार मात्र है सत् रूप केवल मृत्तिका ही है। उसी तरह से सत् वस्तु ही अस्तित्व मात्र हैं, सर्वगत हैं, निर्विशेष हैं, एक है, निरञ्जन हैं, और विज्ञान हैं, जिसे सभी वेदान्ती जानते हैं - ''सदैव सादित्यस्तितामात्रं वस्तु सूक्ष्मं निर्विशेष सर्वगतमेकं निरंजनं निरवयवं विज्ञानं यदवगम्यते सर्ववेदान्तेम्यः''[17]।

---

16. ब्र. सू. शा. भा., पृ. 401-402
17. छा.शा.भा., पृ. 246, ब्र.सूत्र भा., पृ. 455

इसलिये कठोपनिषद् की कारिका की व्याख्या में शंकराचार्य ने यह कहा है कि जो यहां कारण कार्य की उपाधि से युक्त हैं, अविवेकियों के लिये संसार के कर्मो की भांति अवभासित होने वाला है वही विज्ञान धन सर्वसंसार धर्म वर्णित तत्व है - "यदैवेह कार्यकारणोपधिसमन्वितं संसारधर्मवदवभासमान् मविवेकिनां तदैव स्वात्मस्थम् नित्यविज्ञानधन स्वभावं सर्व संसारधर्मवर्जितं ब्रहम"[18]।

ब्रहम सूत्र तथा शंकरभाष्य के अवलोकन से इतना तो स्पष्ट हैं कि उस समय तब बौद्ध सम्प्रदाय का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। सप्तम् शताब्दी में प्रचलित धर्मो और सम्प्रदायों का संकेत करते हुए हर्ष चरित में कापिल, जैन, लोकायत और बौद्ध आदि सम्प्रदायों का उल्लेख किया गया हैं।

जैसा कि पूर्व में संकेत किया जा चुका है कि उपनिषदों के असत्, अनृत और मृत्यु के संकेतों को जिससे अनित्यता और अनात्मता का संकेत मिल सकता हैं, आचार्य शंकर अपने सिद्धान्तों के अनुकूल व्याख्यात कर लेते है। किन्तु फिर भी ब्रहमूसत्र और उपनिषद् के भाष्यों में अनेक विचारों पर बौद्ध प्रभाव की समीक्षा का अवसर आ ही जाता हैं। किन्तु इसके पूर्व आचार्य गौड़पाद की कारिकाओं पर बौद्ध प्रभाव का अवलोकन करना इसलिए उपयुक्त होगा, क्योंकि आचार्य गौड़पाद शंकाराचार्य के गुरूओं की श्रेणी में उल्लिखित हैं।

---

18. क.शा.भा., पृ. 63

गौड़पादाचार्य वेदान्त दर्शन की दार्शनिक दृष्टि का स्थापन करते हुए जब अपनी कारिकाओं की रचना करते है तो वे पग-पग पर माध्यमिक दर्शन के प्रभाव से प्रभावित दिखाई देते हैं।

बौद्ध दर्शन के आचार्यो की दृष्टि से जब धर्मोत्पत्ति और उसकी सत्ता का आख्यान किया जाता है तो कहा जाता है कि पदार्थ किसी दूसरी जगह से न आता है, न स्थित होता है और न अन्यत्र जाता है। मूढ़ जिसे परमार्थ सत् मानते है वह माया से कुछ भिन्न भी नहीं हैं-

''अन्यतो चापियातं न तिष्ठति न गच्छति। मायातः को विशेषोऽस्य यन्मूढ़ैः सत्यतः कृतम्।।[19]''

लंकावतार सूत्र में शश विषाण, कूर्मरोम, वन्ध्यापुत्रादि के उदाहरण देकर वस्तु की सत्ता के अभिलाप को सिद्ध किया गया है[20]।

आचार्य गौड़पाद ठीक इसी प्रकार अपनी धारणा व्यक्त करते है और कहते है कि यहां जो धर्म है वे तत्वतः उत्पन्न नहीं है, उनकी उत्पत्ति मायात्मक है, जो तत्वतः वन्ध्यापुत्र की भांति विद्यमान नहीं हैं-

''असतो मायमा जन्म तत्वतो नेष युज्यते।
वन्ध्यापुत्रों न तत्वेन मायया वापि जायते।।[21]

---

19. बो.(शा.)पृ, 125
20. ल.सू., पृ. 43,108
21. तदेव 3/28

अन्य स्थानों पर भी सत्ता के सम्बन्ध में महायान दर्शन की जो दृष्टि हैं, लगभग उसी दृष्टि का समर्थन और प्रतिपादन आचार्य गौड़पाद भी करते है। नागार्जुन भावों से अस्तित्व के सम्बन्ध में कहते हैं।

''न स्वतो नापि परतो न द्वाम्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्नाजातु विधन्ते भावाः क्वचन केचनं ।।[22]

इसी प्रकार शान्ति देव कहते है कि न तो पदार्थ सत्तात्मक है और न अभावात्मक। अतएंव सर्वजगत् अजात और अनिरूद्ध हैं-

''एवं च न निरोधोऽस्ति न च भावोऽस्ति सर्वदा।
अजातमनिरूद्वं च तस्मात्वमिदं जगत् [23]

आचार्य गौड़पाद ठीक इसी प्रकार से अपनी दृष्टि उपस्थित करते है और प्रायः उन्हीं शब्दों में अपना सिद्धान्त उपस्थित करते हैं, जिन शब्दों का प्रयोग महायानियों ने किया है। वे भी यही कहते है कि वस्तु ने स्वतः उत्पन्न होती है और न परतः। सत् असत् अथवा सद्सत् वस्तु उत्पन्न नहीं होती-'' स्वातो वा परतो वापि न किहिचद्वस्तु जायते। सदसत्यदसद्वापि न किन्चिद् वस्तु जायते[24]।।

बौद्ध दार्शनिकों में माध्यमिक दृष्टि से जैसे वस्तु की सत्ता का निषेध किया गया है उसी तरह आत्म सत्ता का निषेध करते हुए तत्व का लक्षण देते हुए नागार्जुन

---

22. मा.का.1/7

23. बो.(शा.), पृ. 1271

24. मा.का. 4/22

ने अनिरोधम् अनुत्पादम्, अनुच्छेदम्, अशाश्वत् आदि विशेषणों से उसे व्यक्त किया है, जिसे शान्तिदेव ने चतृष्कोटिविनिर्मुक्त शब्द से माध्यमिकों का तन्त्व वेदन कहा है।

आचार्य गौड़पाद आत्मवादी दार्शनिक किन्तु आत्म सत्ता का स्वरूप बताते हुए वे इस तरह का सिद्धान्त उपस्थित करते है जिससे स्पष्टतः महायान दृष्टि के प्रभाव का अनुभव होता है। उनका आत्म-विचार इन शब्दों से प्रकट होता है-

अस्ति नास्तत्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः चल स्थिरोभया भावैरावृणोत्येव वालिशः[25]।

ये सभी उद्धरण इस तथ्य के लिय पर्याप्त प्रमाण हो सकते है कि आत्मवाद की अद्वैता धारा का प्रतिपादन करने वाले आचार्य गौड़पाद किसी न किसी रूप में बौद्ध विचारधारा से प्रभावित थें इन्हीं समानताओं से दास गुप्त तो यहां तक कह देते है कि गौड़पाद बौद्ध थें[26]।

आचार्य शंकर के विषय में तो अनेक्शः यह कहा गया है कि वे प्रच्च्वछन्न बौद्ध थे। अन्य किसी ने नहीं, अपितु अद्वैत वेदान्त को गति देने वाले आचार्य ने सम्भवतः बुद्ध वाद से प्रभावित मानकर ही उनके सिद्धान्तों को खण्डन किया है और अपना मत शंकर के मत से पृथक प्रदर्शित किया है। इसलिये यह देखना यहां सन्दर्भानकूल होगा कि शंकराचार्य के विचारों पर बौद्ध विचारों के प्रभाव का समालोकन किया जाए।

---

25. मा. का. , 4/83
26. हि.इ.फि.1, पृ.423

आचार्य शंकर वेदान्त दर्शन के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए यह कहते है कि वेदान्त का प्रयोजन आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति है[27], और भगवान बुद्ध की दृष्टि से शंकराचार्य की इस दृष्टि में किसी प्रकार का विरोध नहीं दिखाई देता, क्योंकि बुद्ध के समस्त विचारों का मूल ही दुःख है, वे उसी दुःख से त्याग की प्रवृत्ति का उपदेश करते हैं।

शांकराचार्य ने ब्रहमसूत्र के शंकर भाष्य में सौत्रान्तिक, विज्ञानवादी और सर्वशून्यवादी कहकर बौद्धो के तीन वादों का उल्लेख किया हैं और इनके सिद्धान्तों के खण्डन में विविध तर्क उपस्थित किए हैं[28]।

विज्ञानवादी की वस्तु सत्ता की खण्डन शैली पर अपना तर्क देकर शंकर ने यह कहा है कि बिना किसी आधार के वस्तु प्रतीति का व्यवहार नहीं हो सकता। लोक में यह स्पष्ट रूप से दृष्टि गोचर होता है कि रस्सी के आधार पर सर्प और सूर्य की रश्मियों के आश्रय से मृगतृष्णा का व्यवहार प्रचलित होता हैं। इसलिये जैसे सर्प के व्यवहार का आधार रस्सी है उसी तरह से सूर्य रश्मियां मृग-तृष्णा के व्यवहार का आधार हैं। तदवत् ही आत्मा इस जगत पदार्थ के व्यवहार का आधार है- ''न हि निरास्पादा रज्जुसर्प मृगतृष्णिका दयः स्वचिदुपलम्यन्ते केनचित्। यथा रज्वां प्रकासर्पोत्पत्तेः रज्जावात्मना सर्पः सन्नेवासीत् एवं सर्वभावानामुत्पत्तेः प्रक्प्राणबीजात्मनेव सत्वम्''[29]।

विज्ञानवादियों ने भी इसी तरह के तर्क देकर वाहयसत्ता का निषेध किया था।

---

27. मा.डू.भा., 3/1
28. ब्र.सू.भा. 2/2/18-2/232
29. मा.उ.शा.भा., पृ. 431

उनका कहना है कि बाह्य पदार्थ के रूप में दृश्यमान् पदार्थ और आत्मोपचार कारणक्षण के निरोध के साथ-साथ कार्य की उत्पत्ति की विलक्षणता पर निर्भर हैं। विज्ञान न तो बाह्य विषय के रूप रूप में सत् है और न आत्मोपचार के रूप में सत् हैं। विज्ञानाधारित वासनाओं से ही बाह्यवस्तु की सत्ता का आभास होता हैं, क्योंकि विज्ञानवादियों का भी यही तर्क है कि बिना किसी आधार के धर्मोपचार और आत्मोपचार की कल्पना नहीं हो सकती। अतएवं विज्ञान की सत्ता ही आत्मोपचार और धर्मोपचार का कारण हैं।

बौद्ध दृष्टि को शून्य दृष्टि के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले आचार्य नगार्जुन और चन्द्रकीर्ति जब जगत और जगत् पदार्थो को अस्तित्व का विश्लेषण करते है तब वे भगवान बुद्ध के उपदेशों की व्याख्या संवृत्ति सत्य और परमार्थ सत्य के रूप में विभाजित करते है। उस स्थान पर जब चन्द्र कीर्ति संवृति शब्द का अर्थ करते है तो वे कहते है कि संवृति शब्द का अर्थ अज्ञान है जो सभी वस्तुओं के सत्य को ढ़क लेता है-''अज्ञानं हि समवायात् सर्व पदार्थ तत्वावच्छादनात संवृतिरित्युच्यते[30]। क्योंकि जगत् पदार्थ प्रतीत्य समुत्पन्न है और अपनी उत्पत्ति के लिए परस्परपेक्षी है अतएवं उन पदार्थो का अपना कोई स्वभाव नहीं हैं, इसलिये जगत् की सत्ता अज्ञानवरण के कारण निःस्वभावी होते हुए भी भासित होती है और इस तरह की लोक प्रतीति की संवृत्ति सत्य द्वारा उपदेशित है। यह सम्पूर्ण जगत् स्वयम् स्वरूपतः सत् न होता हुआ भी स्वप्न में देखे गए पदार्थो की भांति वस्तु की सत्ता का आभास देता है।

---

30. म.प्र.पृ.-215

शंकर ब्रहमसूत्र भाष्य में शून्यवादियों के इस दृष्टिकोण का खण्डन कर कहते है कि बिना किसी सत् आधार के निःस्वभाव रूप से वस्तु का आभास सम्भव नहीं है, अपितु अविद्या से किसी वस्तु में अन्य वस्तु का आभास होता है जैसे कि लोक में प्रसिद्ध है कि पुक्ति को देखकर रज़त का भास और एक चन्द्र के होने पर द्वितीय चन्द्र की प्रतीति होती हैं-तथा चलोकेऽनुभवः पुक्तिका हि रजतव दवभासते, एकश्चन्द्रः सद्वितीयवादिति[31]। भामतीकार भी इसी पक्ष को उपस्थित कर कहते है कि आत्मा सत् है और बुद्धि-इन्द्रिय देहाति अनृत हैं।-

"अप्रतीतस्यारोपायोगादारोप्यस्य प्रतीतिरूपयुज्जयते न वस्तुसत्तेति"[32]।

मुण्डकोपनिषद् के भाष्य में भी शंकराचार्य पर विद्या के अधिकारी के लिए उपर्युक्त स्थिति का वर्णन करते हुए यह कहते हैं कि जो यह परीक्षा कर लेता है कि समस्त संसार की गति भूति व्यक्तादि से स्थावर पर्यन्त व्याकृत एवं अव्याकृत लक्षण बीज और अंकुत की भांति इतरेतरोत्पत्ति निमित्तक स्तम्भ की भांति निःसार माया मयी गन्धर्व नगर की भांति प्रतिक्षणध्वंस होने वालों को अनित्य जानकर आत्मा से ही उत्पन्न मानता हैं। वही अक्षर ब्रहम के जानने का वास्तविक अधिकारी हैं। अपने इस सिद्धान्त से प्रतिपादन में निश्चय ही आचार्य शंकर महायानियों के लोकसंवृत्ति और परमार्थ सत् की वस्तु सत्ता की प्रतिपादन की द्विविध शैली के इसलिये प्रभावित दिखते है कि वे भी लोक व्यवहार और परमार्थ सत्ता का द्विविध आख्यान का ही वहां ब्रहम की कूटस्थता सिद्ध करने में समर्थ हुए हैं।

---

31. ब्र.सू.शा., पृ. 32-34
32. वही, पृ. 17

समीक्षा और निष्कर्ष

भारतीय दर्शन-परम्परा में बौद्ध दर्शन का अपना एक विशेष महात्व इसलिये है कि वह दर्शन न तो अति विश्वास परक चिन्तन का प्रतिनिधित्व करता है और न ही तर्क परक दृष्टिकोण इसका अपना परिचय हैं। इस दर्शन की पूरी की पूरी परम्परा अनित्य और अनात्मका आश्रय लेकर अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है तो दूसरी ओर इस दर्शन में वस्तु और वस्तु के इतर तत्व की प्रतिष्ठापना के अनुरूप अपने तर्क भी हैं। यही कारण है कि आदि काल से लेकर वर्तमान काल तक इस दर्शन पर परम्परा अपने किन्हीं न किन्हीं सूत्रों के सर्वत्र अनुस्युत दिखाई देती है।

वैदिक और वेदौत्तर उपनिषद् साहित्य में अनित्यात्मक विचारधाराओं के जो संकेत दिए हैं तथा बौद्ध दर्शन ने उन्हं तर्क की कसौटी पर जैसे कसा और अनित्या की ऐसी स्थापना की जो पूरी तरह से तर्क सम्मत और विश्वसनीय बनी। वस्तु की उपत्ति-स्थिति और प्रलय की अवस्था का स्वरूप अन्ततः सभी को स्वीकार करना पड़ा और बौद्ध दर्शन के बाद के समय के भारतीय दर्शन इस विचार परम्परा से प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकते।

इसी तरह आत्मा की नित्यता, अजरता और उसकी एकात्मरूपता की स्थापना यद्यपि उपनिषदों में हुई, तथापि बौद्धों ने जिस रूप में उसका खण्डन किया, वही भी कम विचार का केन्द्र नहीं बना। यदि बौद्ध दर्शन में एक आत्मा की सर्व व्यापकता का और उसकी कूटस्थ अवस्था का खण्डन किया गया तो वह भी इस दर्शन के

दर्शनिकों का ऐसा तर्क हुआ, जिसे सहज ही नहीं नकारा जा सका। यही कारण है कि भारतीय दर्शन में अनित्यता और अनात्मता को यदि बौद्ध दर्शन के अनुरूप नहीं माना गया तब भी अनित्यता और अनात्मता के प्रभाव से अन्य दर्शन के अनुरूप नहीं भी माना गया है तब भी अनित्यता और अनात्मकता के प्रभाव से अन्य दर्शन किसी न किसी रूप में प्रभावित हुए ही है। इसलिये यह कहना संगत है कि बौद्ध दर्शन भारतीय दर्शनों की परम्परा में एक ऐसा दर्शन है जो भारतीय दृष्टिकोण के अनुरूप अपनी चिन्तन परम्परा का विस्तार करता है। और एकश्रेष्ठ दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित होता हैं।

ग्रन्थ-सूची

क्र.स.	संकेत	ग्रन्थ का नाम
1.	भा.ज्यो.शा.	भारतीय ज्योतिष शास्त्र (शंकर बालकृष्ण दीक्षित) पूना 1896
2.	ज.रा.ए.सो.	जनरल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी 1852 खण्ड 13
3.	सं.सा.इ. (मै.)	संस्कृत साहित्य का इतिहास (प्रथम भाग) मैकडानल - अनु. श्री चारू चन्द्र शास्त्री चौखम्बा - 1962
4.	हि.ए.स.लि. (एफ.)	ए हिस्ट्री आफ एंब्सियण्ट संस्कृत लिटरेचर मैक्समूलर चौखम्बा - 1968
5.	अ.इ.ओ.	आल इण्डिया ओरयिण्टल कान्फ्रेस 9 वां सेशन त्रिवेन्द्रम 1937
6.	वे.द. (पाल)	वेदान्त दर्शन डायसनपाल अनु. संगमलाल पाण्डेय हिन्दी ग्रन्थ अकादमी -1971
7.	उ.द.र.स.	उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी - 1971
8.	गी.र.	गीता रहस्यम् बालगंगाधर तिलक 10 वां संस्करण - 1955
9.	प्रा.भा.स. (विष्ट)	प्राचीन भारतीय साहित्य (प्रथम भाग) अनु. लाजपत राय, मोती लाल बनारसी दास
10.	कृ.य.तै.सं.	कृष्ण यजुर्वेद तैत्तरीय संहिता स्वाध्याय मण्डल - 1957

11.	ऋ.	ऋग्वेद भाग-2 विश्व बन्धु विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान, नई दिल्ली
12.	अर्थव.	अथर्ववेद वेद प्रतिष्ठान, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली
13.	क. (उ.सं.)	कठोपनिषद् गीताप्रेस
14.	बृह.	बृहदारण्यकोपनिषद श्री शिवशंकर शर्मा हिन्दी अनुवाद
15.	ऋ. आ. (राहुल)	ऋग्वैदिक आर्य, राहुल सांकृत्यायन किताब महल, इलाहाबाद - 1957
16.	छान्दो.	छान्दोग्योपनिषद (शांकर भाष्य सहित) गीताप्रेस, गोरखपुर - 1994
17.	ई. (उ.स.)	ईशोपनिषद्, उपनिषद संग्रह से
18.	कौषी. (ई.वि.)	कौषीतक उपनिषद्, गीताप्रेस
19.	फि.उ. (गाडेन)	दी फिलासफी आफ उपनिषत्स् अनुवाद - ए.स. गाडेन - 1919
20.	दी.नि. 1(क)	दीघ निकाय भाग 1, जेत्र कश्यप बिहार प्रकाशन - 1958
21.	खु.नि. 5 (क.)	खुद्दक निकाय भाग 5, जे. कश्यप बिहार प्रकाशन - 1959
22.	सं.नि. 2 (क.)	संयुक्त निकाय - 2 भाग, जे. कश्यप बिहार प्रकाशन 1959
23.	मनु.	मनु स्मृति. मथुरा प्रकाशन
24.	यजु.	यजुर्वेद, वेद प्रतिष्ठान, नई दिल्ली
25.	वै. लि.	वैदिक लैक्चर्स, बी.एस. अग्रवाल हिन्दू विश्वद्यिालय - 1960

26.	अथर्व.	अथर्ववेद, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली
27.	बुद्धिज्म	बुद्धिज्म मोनियर विलियम्स - 1889
28.	ऐ (ई.द्वा.उ.)	ऐतरेयोपनिषद्, कैलाश विद्या प्रकाशन
29.	क. (इ.द्वा.उ.)	ईर्शादद्वादशोपनिषद, स्वामी विद्यानन्द गिरि कैलाश विद्या प्रकाशन
30.	प्रश्नों (ई.द्वा.उ.)	प्रश्नोपनिषद्
31.	क.	कथावत्थु, जे. कश्यप बिहार प्रकाशन मण्डल - 1961
32.	खु.नि. 1 (क.)	खुदद्क निकाय भाग (1), जे. कश्यप बिहार प्रकाशन
33.	शि.स.	शिक्षा समुच्चय, सेन्ट पीटरवर्ग - 1897
34.	स.पु. (दास)	सद्धर्म पुण्डरीकम्, डा. राममनोहर दास बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
35.	ज.रा.ए.सो. 1905	जनरल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी 1905
36.	ल.वि.	ललित विस्तर, डा. पी.एल. वैद्य मिथिला विद्यापीठ दरभंगा - 1958
37.	अ.सा.प्र.पा.	अष्ट साहस्त्रिका प्रज्ञा पारमिता सं. श्री परशुराम शर्मा मिथिला विद्यापीठ - 1960
38.	सं.सू.	सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र मिथिला विद्यापीठ - 1960
39.	ग.सू.	गण्डव्यूह सूत्र, पी.एल. वैद्य मिथिला विद्यापीठ - 1960
40.	सं.नि. 2 (क)	संयुक्त निकाय (भाग 2), जे. कश्यप बिहार प्रकाशन - 1959
41.	म.नि. 1 (क)	मज्झिम निकाय (1), जे, कश्यप बिहार प्रकाशन - 1958

42.	मुण्ड.	मुण्डकोपनिषद्, गीताप्रेस
43.	म.नि. 3 (क)	मज्झिम निकाय भाग (3), जे. कश्यप बिहार प्रकाशन - 1958
44.	म.नि. (रा.)	मज्झिम निकाय, बिहार प्रकाश्न - 1958
45.	श्वे.	श्वेता श्वतरोपनिषद्, गीताप्रेस
46.	सं.नि. 2 (क.)	संयुक्त निकाय भाग (2), जे. कश्यप बिहार प्रकाशन - 1959
47.	उ.प्र. बौ.वि.	उत्तर प्रदेश में बौद्ध दर्शन का विकास डा. नलिनाक्षदत्त एवं कृष्णदत्त बाजपेयी उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ - 1956
48.	एम.एल.एस. 1 (आइ.)	दी मिडिल लेंग्थ सेइन्स भाग (1) आई.बी. हार्नर, पालि टेक्स्ट सोसासटी - 1954
49.	वि. (क.)	विभङ्गपालि, जे. कश्यप राजकीय प्रकाशन मण्डल बिहार - 1960
50.	सु.प्र.	सुवर्ण प्रभा ससूत्रम्, डा. एस. बागची मिथिला विद्या पीठ, दरभंगा - 1967
51.	द.सू.	दश भूमिक सूत्रम्, डा. पी.एल. वैद्य मिथिला विद्या पीठ, दरभंगा - 1967
52.	ने.प.	नेत्तिकरण, ई. हार्डी, लन्दन 1902
53.	पा.लि.लै.	पालि लिटरेचर एण्ड लैग्वेज, अनुवाद बी. घोष ओरियण्टल बुक्स रिप्रिण्ट कॉर्पोरेश्म - 1968
54.	पा.सा.ई. (सिं.)	पालि साहित्य का इतिहास, भरत सिंह उपाध्याय हिन्दी साहित्य सम्मेलन सं. 2008
55.	ज.रा.ए.सो. (1955)	जनरल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी - 1925
56.	हि.इ.लि.	हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, डा. बेबर

57.	अ.सं.	अभिधम्मत्थ संगहो सारनाथ प्रकाशित सन् - 1941
58.	अ.सा.	अट्ठसालिनी बापट एवं वाडेकर - 1942
59.	वि.मा. 1	विसुद्धिमग्ग आफ बुद्धघोष, डा. कोसाम्बी भारतीय विद्या भवन, बम्बई - 1940
60.	मुण्ड.	मुण्डकोपनिषद्, गीताप्रेस
61.	अं. (क)	अङ्.गुत्तरनिकाय, भिक्षु ज. कश्यप नवनालन्दा महाबिहार
62.	मि.प्र. (कश्यप)	मिलिन्द प्रश्न, जगदीश कश्यप जेतवन महाबिहार पाली संस्थान श्रावस्ती 1972
63.	एम.एन.बी.एस.	मिलिन्द पञ्ह एण्ड नागसेनभिक्षु, डा. टी.एम. चाउ
64.	मि.प्र.	मिलिन्द प्रश्नम्, संस्कृतच्छाया सहितम्
65.	बौ.वि.इ. (पाण्डेय)	बौद्ध धर्म का विकास, डा. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश
66.	अ.शा.	अभिधर्म कोशः, द्वारिकादास शास्त्री बौद्ध भारती, वाराणसी - 1972
67.	अ.को.भा.	अभिधर्म कोश भाष्यम्, ओ.पी. प्रधान जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यू, पटना - 1967
68.	दी.नि. 2 (क)	दीघ निकाय भाग (2), कश्यप बिहार राजकीय प्रकाशन 1958
69.	प.सू.	पपञ्चसूदनी नाम अट्ठकथा नवनालन्दा महाबिहार, नालन्दा - 1975
70.	अंगु. (पा.टे.सो.)	अङ्गुतरनिकायः भाग (1) (2) पालिटैक्स्ट सोसायटी - 1889-1900
71.	अ.को.	अभिधर्म कोशः, द्वारिकादास शास्त्री बौद्ध भारती, वाराणसी - 1972

72.	अ.को.भा.	अभिधर्म कोशभाष्यम्, ओ.पी. प्रधान जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना - 1967
73.	स्फु.	स्फुटार्था: अभिधर्मकोशव्याख्या, एन.एन.ला. लुजैक एण्ड कम्पनी, लन्दन - 1949
74.	आ.बौ.द.	आदि बौद्ध दर्शन: अनात्मवादी परिपेक्ष्य, प्रतापचन्द्र दी मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया लि. सन् 1978
75.	ब्र.शां.भा.	ब्रह्मसूत्रशाड्.करभाष्यम् (भामती साहितम्) अनन्तकृष्ण शास्त्री, निर्णयसागर प्रेम
76.	छा.शां.आ.	छान्दोग्योपनिषद् (शाड्.करभाष्य सहित) गीताप्रेस गोरखपुर - 1994
77.	क.शां.आ.	कठोपनिषद्, शांकरभाष्य
78.	बो. (शा.)	बोधिचर्यवतार, शन्तिभिक्षु शास्त्री बुद्ध बिहार, लखनऊ
79.	मा.क.	माण्डूक्यकारिका
80.	हि.इ.फि.	ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी
81.	मा.ऊ.शां.मा.	माण्डूक्योपनिषद्, शंकरमाण्य
82.	म.प्र.	मध्यमकशास्त्रम् (प्रसन्नपदाव्याख्या सहितम्) पी.एल.वैद्य, मिथिला विद्या पीठ दरभंगा-1960
83.	सि.सि.इ.फि. (मै.)	सिक्स सिस्टमस आफ इण्डियन फिलासफी मैक्समूलर लन्दन
84.	सां.सि. (का.)	सांख्य सिस्टम्, ए.बी. कीथ लन्दन प्रकाशनम्
85.	आ.इ.फि. (हि.)	आउटलाइन्स आफ इण्डियन फिलासफी एम. हिरियन्ना
86.	ज.मं.	जयमड्गला, एच. शर्मा कलकत्ता - 1926

87.	त.कौ.	तत्व कौमुदी, श्री कृष्णनाथ भट्टाचार्य कलकत्ता - 1826 शकाब्दा:
88.	यो.सू.	पातञ्जलयोग सूत्रम्, डा. श्री नारायण मिश्र भारतीय विद्या प्रकाशन - 1971
89.	म.शा.स्थि.	मध्यान्तविभागशास्त्रम् (स्थिरमतिरीका सहितम्) चन्द्रधर शर्मा, जबलपुर विश्वविद्यालय प्रकाशन-1963
90.	वि.मा.	विज्ञप्ति मात्रतासिद्धि प्रकरणद्वयम् (स्वोपज्ञवृत्ति स्थिरमतिभाष्यसहितम्) राम शंकर त्रिपाठी, थुबतनछोगदुब् शास्त्री वा.सं., वि.वि. वाराणसी-1972
91.	भा.द. (राधाकृष्णन्)	भारतीय दर्शन (राधा कृष्णन्) राज्यपाल एण्ड सन्स दिल्ली - 1969
92.	वि.मा.	विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि प्रकारणद्वयम् (स्वोपज्ञवृत्ति स्थिरमतिभाष्यसहितम्) राम शंकर त्रिपाठी, थुबतनछोगदुब् शास्त्री वा.सं., वि.वि. वाराणसी-1972
93.	म.सू.	महायानसूत्रालङ्कार:, शीतांशु शेखर वागची मिथिला विद्यापीठ दरभंगा - 1970
94.	बो.भू.	बोधिसत्वभूमि:, डा. नलिनाक्षदत्त काक्षी प्रसाद जायसवाल संस्थान, पटना - 1978
95.	सां.त.कौ.	सांख्यतत्त्व कौमदी, डा. गजानन शास्त्री मुसलगांवकर चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी - 1971
96.	प्रो.ओ.का.	प्रोसीडिंग्स आफ थर्ड, ओरियण्टल कान्फ्रेस
97.	अच्युत	अच्युत, डा. गोपीनाथ कविराज: तृतीयवर्ष स्याङ्क:
98.	तै.उ.	तैत्तरीयोपनिषद्, गीताप्रेस

99.	ई.आर.ई.	इनसायक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स खण्ड आठ
100.	भा.बौ.ई. (लामा)	भान्त में बौद्ध धर्म का इतिहास लामा तारानाथ काशीप्रसाद जायसवाल शोध संस्थानम्
101.	स.सू.	समाधिराजसूत्रम्, डा. पी.एल. वैद्य मिथिला विद्यापीठ दरभंगा 1961
102.	र.	रत्नावली (म.शा. षष्ठ परिशिष्टम्) श्री परशुराम शर्मा मिथिला विद्यापठी दरभंगा 1960
103.	ध.सं.	धर्म संग्रहः, एफ. मैक्समूलर, आक्सफोर्ड 1885
104.	त.स.प. 1	तत्त्वसंग्रह (पञ्जिकोपेतः) भाग (1) द्वारिकादास शास्त्री बौद्ध भारती वाराणसी 1968
105.	म.प्र.	मध्यमकशास्त्रम् (प्रसन्नपदाव्याख्या सहितम्) पी.एल. वैद्य मिथिला विद्यापठी दरभंगा 1960
106.	च.श.	चतुः शतक, डा. भागचन्द्र जैन अलोक प्रकाशन, नागपुर - 1971
107.	म.शा.	मध्यान्तविभागशास्त्रम् (स्थिरमतिटीकासहितम्) चन्द्रधर शर्मा जबलपुर विश्वविद्यालय प्रकाशन - 1963
108.	बो.च.	बोधिचर्यावतार (पंजिका सहित) डा. पी.एल. वैद्य मिथिला विद्यापठी दरभंगा 1960
109.	च.वृ.	चतु:शतक (चन्द्रकीर्तिवृत्तिसहितम्) डा. भागचन्द्र जैन आलोक प्रकाशन, नागपुर - 1971